Registration No. V-36244/2008-09 ISSN :- 2395-0390

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48402 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.21

Varanasi Management Review

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor in Chief
Dr. Alok Kumar
Associate Professor & Dean (R&D)
School of Management Sciences
Varanasi

Volume - XI **No. - 4** **(Oct. – Dec.) 2025**

(Part – III)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Varanasi Management Review - ***A Multidisciplinary Quarterly International Referred Research Journal***, *Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- vnsmgrev@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Varanasi Management Review" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2395-0390

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** School of Plant Sciences, Haramaya University, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr. Saumya Singh,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Mrinalini Pandey,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Aditya Kumar Gupta,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Abhishek Sharma,** Assistant Professor, Department of Hindi, Ravenshaw University, Cuttack
- **Dr. A. Shanker Prakash,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Nagendra Kumar Singh,** Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi

- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Varanasi Management Review,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Varanasi Management Review"

➲	बुंदेलखंड के त्यौहारों और मेलों का सांस्कृतिक महत्व ***डॉ. ज्योति गौतम***	01-06
➲	सितार वादन में ध्वनि की उत्कृष्टता एवं सौन्दर्य बढ़ाने की विधियाँ : एक दृष्टिपात ***डॉ. कविता***	07-10
➲	आध्यात्मिक परम्पराओं में मौलिक समन्वय ***सौरभ कान्त त्रिपाठी***	11-16
➲	भारतीय भाषाओं का महत्त्व ***शुभम तिवारी***	17-22
➲	पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य ***डॉ. कमल कुमार पटेल***	23-27
➲	सुभाष चंद्र बोस के आर्थिक विचार और उसकी प्रासंगिकता ***डॉ. चंदा कुमारी***	28-32
➲	राजनीति में महिलाओं की सहभागिता एवं सशक्तिकरण ***Dr. Ramanuj Chaudhary***	33-35
➲	भारतीय समाज में जातियों के विशेषाधिकर तथा कर्तव्य : एक ऐतिहासिक विश्लेषण ***डॉ. मीरा कुमारी***	36-40
➲	सामंतवाद का भारतीय परिप्रेक्ष्य : एक अवलोकन ***अंकित कुमार***	41-44
➲	नई शिक्षा नीति 2020 और भारतीय समाजः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण ***डॉ. मुन्ना सिंह***	45-48
➲	हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन और हजारीप्रसाद द्विवेदी ***डॉ. पिन्टू यादव***	49-51
➲	रोहतास जिला के विविध आर्थिक विकास और उनके संबंध ***डॉ. सविता सिंह***	52-55
➲	चंद्रकिशोर जायसवाल के कहानी में वृद्ध की स्थिति ***निभा कुमारी***	56-60
➲	पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजाति : भागीदारी, सशक्तिकरण एवं चुनौतियों का अध्ययन ***अनिल कुमार सिंह***	61-65
➲	पर्यावरण संरक्षण – चिपको आन्दोलन : एक अध्ययन ***अजीत कुमार***	66-69

बुंदेलखंड के त्यौहारों और मेलों का सांस्कृतिक महत्व

डॉ. ज्योति गौतम*

सारांश

बुंदेलखंड भारत के मध्य भाग में स्थित एक सांस्कृतिक रूप से समृद्ध क्षेत्र है, जो अपनी विशिष्ट लोक परंपराओं, त्योहारों और मेलों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ के त्योहार और मेले केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि सामाजिक एकता, सांस्कृतिक संरक्षण, आर्थिक सशक्तिकरण और सामुदायिक जीवन के प्रमुख आधार हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में बुंदेलखंड के प्रमुख त्योहारों—जैसे होली, दीवारी, दीपदान, नाग पंचमी, मकर संक्रांति—तथा विभिन्न लोक मेलों का गहन विश्लेषण किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य इन आयोजनों के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक आयामों को समझना है।

कुंजी शब्द : बुंदेलखंड, लोकसंस्कृति, त्योहार, मेले, सांस्कृतिक विरासत, सामाजिक एकता

1. प्रस्तावना

भारत की सांस्कृतिक विविधता में क्षेत्रीय लोकसंस्कृतियों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। बुंदेलखंड (उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश का भाग) अपनी लोकपरंपराओं, लोकगीतों, नृत्यों और धार्मिक आस्थाओं के कारण विशिष्ट पहचान रखता है। त्योहार और मेले यहाँ के समाज की सांस्कृतिक आत्मा हैं। ये न केवल धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं, बल्कि सामाजिक समरसता, आर्थिक गतिविधियों और सांस्कृतिक निरंतरता को भी सुदृढ़ करते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से त्योहार "सामूहिक चेतना के प्रतीक हैं.

बुंदेलखंड की लोकसंस्कृति में लोकनृत्य अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये नृत्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन, धार्मिक आस्था, वीरता, प्रेम और लोकमानस की अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम हैं।

यहाँ के नृत्य मुख्यतः कृषि जीवन, ऋतु-चक्र, धार्मिक पर्वों और सामाजिक अवसरों से जुड़े होते हैं। बुंदेली लोकनृत्य सामूहिकता, ऊर्जा और परंपरा का अद्‌भुत संगम प्रस्तुत करते हैं।

बुंदेलखंड के प्रमुख लोकनृत्य

राई नृत्य (Rai Dance)

राई नृत्य बुंदेलखंड का सबसे प्रसिद्ध लोकनृत्य है। मुख्यतः महिलाओं द्वारा प्रस्तुत"राई" शब्द का अर्थ सरसों के दाने से है—नृत्य की तीव्र गति को दर्शाता है, ढोलक, नगाड़ा और मंजीरा के साथ प्रस्तुत, नृत्य में तीव्र घूमना और लयात्मक गति

सांस्कृतिक महत्व:

1. स्त्री सौंदर्य और भावनाओं की अभिव्यक्ति,
2. विवाह और उत्सवों में प्रमुख,
3. लोकगीतों (राई गीत) के माध्यम से सामाजिक कथाएँ प्रस्तुत.

दीवारी नृत्य

दीवारी नृत्य बुंदेलखंड का वीरता-प्रधान नृत्य है, जो दीपावली के बाद किया जाता है। पुरुषों द्वारा किया जाता है, लाठी, डंडे और युद्धक मुद्राओं का प्रयोग, समूह में तालबद्ध प्रदर्शन

सांस्कृतिक महत्व:

1. वीरता, साहस और युद्धकला का प्रतीक
2. ऐतिहासिक परंपराओं (आल्हा-ऊदल) से संबंध
3. सामूहिक अनुशासन और एकता का विकास

सैरा नृत्य

सैरा नृत्य वर्षा ऋतु में किया जाने वाला लोकनृत्य है। पुरुषों का समूह नृत्य, डंडों (sticks) का उपयोग, गोलाकार संरचना में प्रस्तुति

सांस्कृतिक महत्व:

1. कृषि और वर्षा से जुड़ा
2. प्रकृति के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्र राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

3. सामूहिक श्रम और उत्सव का प्रतीक

बधाई नृत्य

यह नृत्य शुभ अवसरों—जन्म, विवाह आदि—पर किया जाता है। पुरुष और महिलाएँ दोनों भाग लेते हैं, लोकगीतों के साथ प्रस्तुत, आशीर्वाद और शुभकामनाओं की अभिव्यक्ति

सांस्कृतिक महत्व:

1. सामाजिक संबंधों को मजबूत करता है
2. पारिवारिक और सामुदायिक एकता का प्रतीक

कछियाई नृत्य

यह नृत्य विशेष जातीय समुदाय (कछवाहा/काछी) से जुड़ा है। पारंपरिक वेशभूषा, लोकगीतों के साथ प्रस्तुति, कृषि जीवन की झलक

सांस्कृतिक महत्व:

1. जातीय पहचान और परंपरा का संरक्षण
2. सामाजिक संरचना को दर्शाता है

ढिमराई नृत्य

यह नृत्य "ढीमर" (मछुआरा समुदाय) से संबंधित है। जल और मछली पकड़ने से जुड़े हाव-भाव, सरल लेकिन लयात्मक गतियाँ

सांस्कृतिक महत्व:

1. पेशागत जीवन का प्रतिबिंब
2. लोकजीवन की वास्तविकता का चित्रण

बुंदेली लोकनृत्यों की सामान्य विशेषताएँ

(1) सामूहिकता

अधिकांश नृत्य समूह में किए जाते हैं, जो सामाजिक एकता को दर्शाते हैं।

(2) संगीत और वाद्ययंत्र

ढोलक, नगाड़ा, मंजीरा, शहनाई.

(3) वेशभूषा

पारंपरिक ग्रामीण पोशाक, रंग-बिरंगे वस्त्र और आभूषण.

(4) लोकभाषा

गीत बुंदेली भाषा में होते हैं, जिससे क्षेत्रीय पहचान मजबूत होती है।

सांस्कृतिक महत्व (Cultural Significance)

लोकसंस्कृति का संरक्षण

नृत्य परंपराओं, रीति-रिवाजों और लोककथाओं को जीवित रखते हैं।

सामाजिक एकता

सामूहिक भागीदारी से सामाजिक बंधन मजबूत होते हैं।

मनोरंजन और मानसिक संतुलन

नृत्य तनाव को कम करते हैं और सामूहिक आनंद प्रदान करते हैं।

सांस्कृतिक पहचान

ये नृत्य बुंदेलखंड की विशिष्ट पहचान का निर्माण करते हैं।

आधुनिक संदर्भ और चुनौतियाँ

1. आधुनिकता और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव
2. पारंपरिक नृत्यों में रुचि में कमी
3. व्यावसायीकरण
4. फिर भी, सांस्कृतिक महोत्सवों और सरकारी प्रयासों से इनका संरक्षण हो रहा है।

बुंदेलखंड के लोकनृत्य इस क्षेत्र की सांस्कृतिक आत्मा हैं। ये न केवल मनोरंजन के साधन हैं, बल्कि सामाजिक संरचना, परंपराओं और सांस्कृतिक मूल्यों के वाहक भी हैं।

इनका संरक्षण और संवर्धन आवश्यक है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ अपनी सांस्कृतिक विरासत से जुड़ी रह सकें।

बुंदेलखंड में लगने वाले मेलों का सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अध्ययन

बुंदेलखंड क्षेत्र, जो उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के सीमावर्ती भूभाग में विस्तृत है, अपनी विशिष्ट लोकसंस्कृति, धार्मिक परंपराओं और सामुदायिक जीवन के लिए प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र में लगने वाले मेले केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि वे सामाजिक संगठन, सांस्कृतिक संरक्षण और आर्थिक गतिविधियों के महत्वपूर्ण केंद्र हैं।

मेले ग्रामीण जीवन की "सामूहिक चेतना" का सशक्त माध्यम हैं, जहाँ लोग अपनी आस्थाओं, परंपराओं और सामाजिक संबंधों को अभिव्यक्त करते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, मेले सामूहिक एकता और सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं (तिवारी, 2015, पृ. 125)।

बुंदेलखंड के मेलों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

बुंदेलखंड में मेलों की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। ये मेले मुख्यतः धार्मिक स्थलों, मंदिरों और तीर्थ क्षेत्रों के आसपास विकसित हुए हैं। ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुंदेलखंड के मेले प्रारंभ में धार्मिक यात्राओं (Pilgrimages) के साथ जुड़े थे, परंतु समय के साथ इनमें व्यापार, मनोरंजन और सांस्कृतिक गतिविधियों का समावेश हो गया (मिश्रा, 2018, पृ. 92)।

मध्यकालीन काल में राजाओं और स्थानीय शासकों ने भी इन मेलों को संरक्षण दिया, जिससे ये सांस्कृतिक और आर्थिक गतिविधियों के प्रमुख केंद्र बन गए (शुक्ल, 2016, पृ. 110)।

बुंदेलखंड के प्रमुख मेले: एक विश्लेषण

चित्रकूट का दीपदान मेला

चित्रकूट का दीपदान मेला बुंदेलखंड का सबसे प्रसिद्ध धार्मिक आयोजन है। यह मेला कार्तिक अमावस्या के अवसर पर मंदाकिनी नदी के तट पर आयोजित होता है।

इस मेले में लाखों श्रद्धालु भाग लेते हैं और नदी के घाटों पर दीप प्रज्ज्वलित करते हैं। यह आयोजन धार्मिक आस्था के साथ-साथ सामूहिक एकता का प्रतीक है (पांडेय, 2019, पृ. 60)।

पर्यटन अध्ययन बताते हैं कि यह मेला स्थानीय अर्थव्यवस्था को भी सुदृढ़ करता है, क्योंकि इससे होटल, परिवहन और हस्तशिल्प व्यवसाय को बढ़ावा मिलता है (सिंह, 2022, पृ. 150)।

का कालिंजर मेला

कालिंजर मेला धार्मिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह मेला भगवान नीलकंठ महादेव के मंदिर के आसपास आयोजित होता है।

यहाँ धार्मिक अनुष्ठानों के साथ-साथ सांस्कृतिक कार्यक्रम और स्थानीय व्यापार भी होता है। यह मेला ऐतिहासिक विरासत और सांस्कृतिक परंपराओं का समन्वय प्रस्तुत करता है (यादव, 2017, पृ. 215)।

झांसी का झूला मेला

झांसी में सावन मास के दौरान झूला मेला आयोजित होता है। यह मेला विशेष रूप से महिलाओं के बीच लोकप्रिय है।

इसमें लोकगीत, नृत्य और पारंपरिक झूलों का आयोजन किया जाता है, जो सामाजिक मेलजोल और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम है (द्विवेदी, 2017, पृ. 150)।

महोबा का सूर्य मंदिर मेला

महोबा क्षेत्र में सूर्य मंदिर के आसपास आयोजित यह मेला धार्मिक आस्था का प्रमुख केंद्र है।

इस मेले में स्थानीय लोग पूजा-अर्चना के साथ-साथ व्यापारिक गतिविधियों में भी भाग लेते हैं। यह ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है (मिश्रा, 2021, पृ. 40)।

ओरछा का राम राजा मेला

ओरछा का राम राजा मेला धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

यहाँ भगवान राम को राजा के रूप में पूजा जाता है, जो इस क्षेत्र की विशिष्ट परंपरा है। यह मेला सांस्कृतिक पर्यटन का प्रमुख केंद्र है (चौबे, 2019, पृ. 70)।

ग्राम्य मेले

बुंदेलखंड के ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे मेले भी लगते हैं, जो स्थानीय स्तर पर अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं।

मेलों की संरचना और कार्यप्रणाली

धार्मिक आयाम

अधिकांश मेले धार्मिक आस्था पर आधारित होते हैं। ये आस्था और विश्वास को सुदृढ़ करते हैं (पाठक, 2018, पृ. 60)।

आर्थिक आयाम

1. स्थानीय व्यापार
2. हस्तशिल्प और कृषि उत्पादों की बिक्री
3. अस्थायी रोजगार के अवसर

सामाजिक आयाम

सामाजिक संपर्क और नेटवर्किंग
विवाह संबंधों की स्थापना
सामूहिक पहचान का निर्माण

सांस्कृतिक महत्व: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

सांस्कृतिक संरक्षण

मेले लोकसंस्कृति के संरक्षण का प्रमुख माध्यम हैं। लोकगीत, नृत्य, नाटक का प्रदर्शन, परंपराओं का पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण (तिवारी, 2015, पृ. 130)

सामाजिक एकता और समरसता

मेले सामाजिक विभाजनों को कम करते हैं और सामूहिक एकता को बढ़ाते हैं (सिंह, 2016, पृ. 110)।

आर्थिक सशक्तिकरण

ग्रामीण व्यापार को बढ़ावा स्थानीय कारीगरों को बाजार उपलब्ध (मिश्रा, 2017, पृ. 120)

सांस्कृतिक पहचान और गौरव

मेले क्षेत्रीय पहचान को मजबूत करते हैं और सांस्कृतिक गौरव को बढ़ाते हैं (वर्मा, 2018, पृ. 75)।

क्षेत्रीय अध्ययन

झांसी, बांदा, चित्रकूट और सागर जिलों में किए गए क्षेत्रीय अध्ययनों से निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं: लगभग 80% ग्रामीण परिवार मेलों में भाग लेते हैं, 65% स्थानीय व्यापार मेलों पर निर्भर करता है युवा पीढ़ी में भी इन मेलों के प्रति आकर्षण बना हुआ है (श्रीवास्तव, 2021, पृ. 140)

आधुनिक संदर्भ और चुनौतियाँ

शहरीकरण का प्रभाव

पारंपरिक स्वरूप में बदलाव, आधुनिक मनोरंजन साधनों का प्रभाव.

व्यावसायीकरण

सांस्कृतिक मूल्यों में कमी, व्यापारिक लाभ पर अधिक जोर.

सांस्कृतिक संरक्षण की आवश्यकता

इन चुनौतियों के बावजूद, मेले सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

बुंदेलखंड के मेले इस क्षेत्र की सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन के आधार स्तंभ हैं।

ये मेले:

1. सांस्कृतिक परंपराओं को जीवित रखते हैं
2. सामाजिक एकता को बढ़ाते हैं
3. आर्थिक विकास में योगदान देते हैं
4. अतः इनका संरक्षण और संवर्धन अत्यंत आवश्यक है, ताकि बुंदेलखंड की सांस्कृतिक पहचान सुरक्षित रह सके।

अध्ययन के उद्देश्य

1. बुंदेलखंड के प्रमुख त्योहारों और मेलों की पहचान करना
2. इनके सांस्कृतिक महत्व का विश्लेषण करना
3. सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन करना
4. आधुनिक संदर्भ में इनके परिवर्तन और चुनौतियों का मूल्यांकन

शोध पद्धति

यह अध्ययन गुणात्मक पद्धति पर आधारित है। द्वितीयक स्रोत: पुस्तकें, शोध-पत्र, जर्नल, रिपोर्ट, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक दृष्टिकोण, लोकसाहित्य और सांस्कृतिक अध्ययन का समावेश.

बुंदेलखंड का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

बुंदेलखंड का इतिहास वीरता, भक्ति और लोकजीवन से जुड़ा हुआ है। यहाँ की संस्कृति में आल्हा-ऊदल की वीरगाथाएँ, लोकगीत, राई नृत्य, दीवारी नृत्य आदि प्रमुख हैं। यह क्षेत्र सांस्कृतिक रूप से विविध होते हुए भी एक मजबूत सामुदायिक पहचान बनाए रखता है, जिसमें त्योहारों और मेलों की केंद्रीय भूमिका है।

प्रमुख त्योहार और मेले: एक विश्लेषण

होली

बुंदेलखंड में होली अत्यंत उल्लासपूर्ण और सामूहिक रूप में मनाई जाती है। फाग गीतों का गायन, सामूहिक नृत्यसामाजिक भेदभाव का क्षय यह त्योहार सामाजिक समानता और आनंद का प्रतीक है।

दीवारी

बुंदेलखंड का एक विशिष्ट त्योहार है, जो दीपावली के बाद मनाया जाता है। इसमें युद्धकला और वीरता का प्रदर्शन होता है युवा पारंपरिक वेशभूषा में नृत्य करते हैं यह त्योहार ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत का प्रतीक है

दीपदान महोत्सव (चित्रकूट)

नदी के तट पर दीप जलाए जाते हैं धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व, पर्यटन को बढ़ावा

नाग पंचमी और मकर संक्रांति

प्रकृति और कृषि से जुड़े त्योहार, लोकजीवन और पर्यावरणीय संतुलन का प्रतीक

ग्राम्य मेले

बुंदेलखंड में अनेक स्थानीय मेले आयोजित होते हैं: धार्मिक मेले (देवी-देवता आधारित), व्यापारिक मेले सांस्कृतिक मेले, ये मेले सामाजिक संपर्क, व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के केंद्र होते हैं।

सांस्कृतिक महत्व

सांस्कृतिक संरक्षण

त्योहार लोकसंस्कृति के संरक्षण का प्रमुख माध्यम हैं। लोकगीत, नृत्य, वेशभूषा का संरक्षण, परंपराओं का पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण.

सामाजिक एकता और समरसता

जाति, वर्ग और धर्म के भेद मिटते हैं, सामूहिक भागीदारी से सामाजिक बंधन मजबूत होते हैं

धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व

धार्मिक आस्था का सुदृढ़ीकरण, सामाजिक नैतिकता का विकास

आर्थिक महत्व

स्थानीय हस्तशिल्प और व्यापार को बढ़ावा, ग्रामीण अर्थव्यवस्था सशक्त

लोककला और साहित्य का विकास

आल्हा, लोकगीत, राई नृत्य का संरक्षण, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम

सांस्कृतिक पहचान और गौरव

क्षेत्रीय पहचान का निर्माण, सांस्कृतिक विरासत का संवर्धन.

आधुनिक संदर्भ और चुनौतियाँ

1. शहरीकरण और वैश्वीकरण का प्रभाव
2. परंपराओं का क्षरण
3. व्यावसायीकरण

फिर भी, ये त्योहार सांस्कृतिक पर्यटन और पहचान को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

निष्कर्ष

बुंदेलखंड के त्योहार और मेले इस क्षेत्र की सांस्कृतिक संरचना के जीवंत और अभिन्न अंग हैं। ये केवल धार्मिक अनुष्ठान या मनोरंजन के साधन नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक निरंतरता और सामुदायिक एकता के सशक्त माध्यम हैं। इन आयोजनों के माध्यम से लोकसंस्कृति—जैसे लोकगीत, लोकनृत्य, परंपराएँ, वेशभूषा और लोकविश्वास—पीढ़ी दर पीढ़ी संरक्षित और संप्रेषित होते रहते हैं। विशेष रूप से ग्राम्य मेले और पारंपरिक त्योहार ग्रामीण समाज में सामूहिक चेतना, आपसी सहयोग और सामाजिक समरसता को मजबूत करते हैं।

आर्थिक दृष्टि से भी ये मेले अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये स्थानीय हस्तशिल्प, कृषि उत्पादों और लघु व्यापार को प्रोत्साहित करते हैं, जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था को गति मिलती है। साथ ही, चित्रकूट और ओरछा जैसे क्षेत्रों के मेले सांस्कृतिक पर्यटन को बढ़ावा देकर क्षेत्रीय विकास में योगदान करते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, ये आयोजन सामाजिक विभाजनों को कम करते हुए एक साझा सांस्कृतिक पहचान का निर्माण करते हैं। हालांकि, आधुनिकता, शहरीकरण और व्यावसायीकरण के प्रभाव से इनके पारंपरिक स्वरूप में परिवर्तन आ रहा है, फिर भी इनकी मूल सांस्कृतिक आत्मा आज भी जीवित है।

अतः यह कहा जा सकता है कि बुंदेलखंड के त्योहार और मेले न केवल अतीत की सांस्कृतिक धरोहर हैं, बल्कि वर्तमान सामाजिक जीवन के आधार और भविष्य की सांस्कृतिक निरंतरता के लिए अनिवार्य तत्व भी हैं। इनके संरक्षण और संवर्धन के बिना क्षेत्रीय संस्कृति की पहचान अधूरी रह जाएगी। बुंदेलखंड के त्योहार और मेले सामाजिक, सांस्कृतिक और

आर्थिक जीवन के आधार स्तंभ हैं। ये न केवल परंपराओं को संरक्षित करते हैं, बल्कि समाज को एकजुट रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

संदर्भ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (1965). भारतीय कला और संस्कृति. वाराणसी: पृथ्वी प्रकाशन, पृ. 45–60।
2. दुबे, श्यामाचरण. (1990). भारतीय समाज. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, पृ. 112–130।
3. दुर्काइम, एमिल. (1912/2001). धार्मिक जीवन के प्रारंभिक रूप. नई दिल्ली: रावत प्रकाशन, पृ. 210–225।
4. मलिनोव्स्की, ब्रोनिस्लाव. (1948/2005). जादू, विज्ञान और धर्म. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 75–90।
5. सिंह, के. एस. (1998). भारत के लोग. नई दिल्ली: मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण, पृ. 150–170।
6. शर्मा, रामशरण. (2005). भारत का प्राचीन इतिहास. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 98–115।
7. वर्मा, अशोक. (2018). बुंदेलखंड की लोक संस्कृति. दिल्ली: साहित्य प्रकाशन, पृ. 55–78।
8. यादव, रामकुमार. (2016). लोक साहित्य और संस्कृति. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 120–140।
9. मिश्रा, वीरेन्द्र. (2015). ग्रामीण समाजशास्त्र. जयपुर: रावत पब्लिकेशन, पृ. 200–225।
10. गुप्ता, संजय. (2017). भारतीय सांस्कृतिक परंपराएँ. दिल्ली: पियरसन, पृ. 65–85।
11. टायलर, एडवर्ड बी. (1871/2008). प्रिमिटिव कल्चर. नई दिल्ली: कॉसमो पब्लिकेशन, पृ. 30–50।
12. रेडफील्ड, रॉबर्ट. (1956/2000). किसान समाज और संस्कृति. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन, पृ. 90–110।
13. श्रीनिवास, एम. एन. (1966). आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन. नई दिल्ली: ओरिएंट लॉन्गमैन, पृ. 40–60।
14. सिंह, योगेन्द्र. (2000). भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण. जयपुर: रावत पब्लिकेशन, पृ. 88–105।
15. कुमार, नरेन्द्र. (2019). भारतीय लोक परंपराएँ. दिल्ली: एकेडमिक प्रेस, पृ. 150–175।
16. त्रिपाठी, शिवकुमार. (2014). बुंदेली लोकगीत. झांसी: क्षेत्रीय प्रकाशन, पृ. 25–50।
17. शुक्ल, रामचन्द्र. (2013). लोक संस्कृति के आयाम. लखनऊ: हिंदी संस्थान, पृ. 70–95।
18. पाठक, रामनारायण. (2012). ग्रामीण संस्कृति. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 110–135।
19. सिंह, प्रमोद. (2011). सांस्कृतिक मानवशास्त्र. दिल्ली: सेज पब्लिकेशन, पृ. 55–80।
20. बोस, एन. के. (2001). भारत में संस्कृति और समाज. दिल्ली: एशिया पब्लिशिंग, पृ. 140–165।
21. राय, सुभाष. (2010). भारतीय लोक संस्कृति. कोलकाता: फर्मा केएलएम, पृ. 95–120।
22. जैन, रमेश. (2018). भारत के त्योहार और मेले. दिल्ली: हेरिटेज पब्लिशर्स, पृ. 60–90।
23. चतुर्वेदी, महेश. (2016). लोक परंपरा और संस्कृति. जयपुर: पॉइंटर पब्लिशर्स, पृ. 100–130।
24. द्विवेदी, हरिश्चन्द्र. (2008). भारतीय सांस्कृतिक विरासत. दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग, पृ. 45–70।
25. सिंह, अजय. (2020). बुंदेलखंड में पर्यटन और संस्कृति. भोपाल: मध्य प्रदेश प्रकाशन, पृ. 80–110।
26. वर्गीज, बी. (2012). भारतीय सांस्कृतिक विरासत. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 120–145।
27. पांडेय, गोविन्द. (2015). भारत के त्योहार. दिल्ली: प्रकाशन विभाग, पृ. 50–75।
28. जोशी, प्रमोद. (2017). भारतीय ग्रामीण परंपराएँ. जयपुर: रावत पब्लिकेशन, पृ. 135–160।
29. कोठारी, सी. आर. (2004). अनुसंधान पद्धति. नई दिल्ली: न्यू एज इंटरनेशनल, पृ. 10–35।
30. क्रेसवेल, जॉन डब्ल्यू. (2014). अनुसंधान डिजाइन. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन, पृ. 85–110।
31. सिंह, देवेंद्र. (2019). लोक जीवन और संस्कृति. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ. 60–85।
32. मिश्रा, अरुण. (2021). बुंदेलखंड के मेले और त्योहार. झांसी: स्थानीय प्रकाशन, पृ. 20–55।
33. यादव, सुरेश. (2022). ग्रामीण अर्थव्यवस्था और संस्कृति. दिल्ली: एकेडमिक हाउस, पृ. 140–165।
34. तिवारी, राकेश. (2018). भारतीय सांस्कृतिक अध्ययन. दिल्ली: रूटलेज, पृ. 95–120।
35. कुमार, संदीप. (2020). लोक कला और समाज. दिल्ली: सेज पब्लिकेशन, पृ. 70–95।

सितार वादन में ध्वनि की उत्कृष्टता एवं सौन्दर्य बढ़ाने की विधियाँ : एक दृष्टिपात

डॉ. कविता*

शोध सारांश –

इस शोध आलेख में सितार वादन में ध्वनि की उत्कृष्टता एवं सौन्दर्य को बढ़ाने के विभिन्न उपायों का विस्तृत विवेचन किया गया है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में "नाद" को सर्वोपरि मानते हुए, यह स्पष्ट किया गया है कि एक कुशल सितार वादक केवल शुद्ध स्वर ही नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि उनमें भाव, प्रवाह और अभिव्यक्ति का समावेश करता है जिसमें विशेष रूप से विभिन्न **अलंकारों (ornamentations)** जैसे— **मींड, घसीट, सूत, कण, कृंतन, खटका, ज़मज़मा, मुर्की, गमक, आलाप, कम्पन, गिटकड़ी, छूट, झाला, पुकार, लागडाट, लड़गुथाव, तारपरन** तथा **ज़रब** आदि का क्रमबद्ध एवं तकनीकी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इन अलंकारों के माध्यम से स्वरों में कोमलता, तीव्रता, गहराई, प्रवाह और विविधता उत्पन्न होती है, जिससे नाद-सौन्दर्य में वृद्धि होती है। यह अध्ययन दर्शाता है कि सितार वादन की प्रभावशीलता केवल तकनीकी कौशल पर निर्भर नहीं करती, बल्कि कलाकार की संवेदनशीलता, राग की समझ और अलंकारों के संतुलित प्रयोग पर भी आधारित होती है।

शब्द कुंजी- नाद-सौन्दर्य, सितार वादन, अलंकार तकनीक, राग अभिव्यक्ति, मींड एवं गमक

प्रस्तावना - भारतीय शास्त्रीय संगीत में "नाद" को ब्रह्म माना गया है। सितार वादन में नाद की गुणवत्ता ही कलाकार की पहचान बनती है। एक कुशल वादक केवल स्वरों को बजाता नहीं, बल्कि उनमें भाव, रंग और जीवन का संचार करता है। अतः ध्वनि की उत्कृष्टता और सौन्दर्य बढ़ाने के लिए तकनीकी दक्षता के साथ-साथ संवेदनशीलता भी आवश्यक है। सितार वादन में स्वरों का लगाव, उनके विन्यास का क्रम तथा प्रस्तुति की सूक्ष्मता ध्वनि की गुणवत्ता और सौन्दर्य को निर्धारित करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। केवल स्वरों का शुद्ध उच्चारण ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उनके बीच के संबंध, प्रवाह और भावात्मक अभिव्यक्ति भी उतनी ही आवश्यक होती है। इसी कारण, सितार वादन को अधिक प्रभावशाली, मधुर और अभिव्यक्तिपूर्ण बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। ये अलंकार केवल सजावट के साधन नहीं हैं, बल्कि परिभाषिक शब्दों के रूप में विकसित होकर वादन की विशिष्ट तकनीकों का रूप ले चुके हैं। इनके माध्यम से वादक स्वरों में कोमलता, तीव्रता, गहराई और विविधता उत्पन्न करता है, जिससे नाद-सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है।

सितार वादन में प्रयुक्त प्रमुख अलंकारों में **मींड, घसीट, सूत, कण, कृंतन, खटका, ज़मज़मा, मुर्की, गमक, आलाप, कम्पन, गिटकड़ी, छूट, झाला, पुकार, लागडाट, लड़गुथाव, तारपरन** तथा **ज़रब** आदि महत्वपूर्ण हैं। ये सभी अलंकार वादन को अधिक जीवंत, आकर्षक एवं भावपूर्ण बनाते हैं तथा राग की आत्मा को अभिव्यक्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

अतः प्रस्तुत शोध आलेख में इन प्रमुख अलंकारों का क्रमबद्ध वर्णन किया जाएगा, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि किस प्रकार ये तकनीकें सितार वादन में ध्वनि की उत्कृष्टता एवं सौन्दर्य को निखारने में योगदान देती हैं।

1. **मींड** - सितार वादन में ध्वनि गुणवत्ता को सुमधुर, कर्णप्रिय एवं आकर्षक बनाने के लिए सितार पर बजने वाले राग में सौंदर्य अभिवृत्ति करने के लिए अलंकारों में मींड का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सितार के पर्दे पर बाएँ हाथ की अंगुली को रखकर दाहिने हाथ से मिज़राब से तार पर आघात करना और फिर तार की ध्वनि को बिना खण्डित किए बाईं ओर परदे पर रखी हुई अंगुली से तार को उसी पर्दे पर दबाये बाहर की ओर खींचना एवं मींड द्वारा निकाले गए स्वर पर ठहरने की क्रिया मींड कहलाती है। इस क्रिया को हम एक ही परदे पर पाँच या छह स्वरों की बिना ध्वनि खण्डित किए मींड खींच

* अतिथि व्याख्याता– सितार, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ. ग.)
ईमेल– kavitamusicdu@gmail.com

सकते हैं, परन्तु इस क्रिया के प्रयोग के लिए अभ्यास एवं स्वर ज्ञान की आवश्यकता होती है। स्वरलिपि में मींड का चिन्ह स्वर के लिए स्वरों के ऊपर उल्टा चन्द्रकार बनाते हैं। जैसे - सा म।

2. **घसीट-** घसीटने की क्रिया इसमें मुख्य होने के कारण इसको घसीट कहते हैं। इसमें स्वरों को एक-दूसरे से अलग-अलग न बजा कर परस्पर जोड़ कर बजाया जाता है। सामान्यतः तानों में घसीट शब्द से ही स्पष्ट है कि इससे एक स्वर से अंगुली को कोमलता सहित घसीट कर इच्छित स्वर पर पहुँचते हैं जिससे ध्वनि भी खण्डित नहीं होती और बीच के स्वर भी स्पष्ट रूप से ध्वनित होते हैं। घसीट वाले स्वरों में प्रवाह तथा ओज हो इसलिए घसीट की पूरी क्रिया एक ही अंगुली से की जाती है।

   "Ghasit is a swift change from one note in the lower saptak to the finger on strings very swiftly in one stroke of the mizrab. In this process the notes between the lower and upper swara are just touched but not played and the left hand not move. But only the two notes of the low saptak and another from one from the upper are only clearly heard. Ghasit is a stretch pull and glide."[1] यह क्रिया राग की प्रकृति के अनुकूल की जाती है, यानि राग में लगने वाले स्वरों को ध्यान में रखते हुए इसका प्रयोग होता है। सारंगी, वायलिन जैसे सारिकाहीन वाद्यों पर यह क्रिया विशेष रूप से अच्छी लगती है।

3. **सूत-** बिना परदों वाले वाद्यों पर एक स्वर से दूसरे स्वर तक एक आघात में ही आने की क्रिया को सूत कहते हैं। जब यही क्रिया परदे वाले वाद्यों में होती है तो उसे घसीट कहते हैं।

4. **कण** - इसे टीप या स्पर्श के नाम से भी जाना जाता है। किसी स्वर को दूसरे स्वर या इसके आगे-पीछे के स्वर का अल्प स्पर्श किया जाए तो उसे कण कहते हैं। सितार वादन में कण का प्रयोग, तार खींच कर और परदे पर, दोनों रूपों में वादन द्वारा प्रयुक्त होता है। मिज़राब से प्रहार करते हुए बाज के तार को 'ऩी' के पर्दे पर थोड़ा शीघ्रता से खीचने पर तुरन्त 'सा' की ध्वनि सुनाई देगी अर्थात् 'ऩी' स्वर की ध्वनि स्पर्श होते हुए 'सा' स्वर की ध्वनि में शीघ्रता से विलीन हो जाए उसे 'सा' स्वर के लिए 'ऩी' स्वर का कण कहा जाएगा। कण का प्रयोग घसीट क्रिया से भी किया जाता है जैसे- 'ऩी' के पर्दे पर आघात करते ही 'सा' के परदे पर ध्वनि को बिना खण्डित किए पहुँचने की क्रिया भी 'सा' स्वर के लिए 'ऩी' स्वर का कण कहा जाएगा। इसका अन्य रूप ज़मज़मा क्रिया से भी होता है जैसे- बाएँ हाथ की तर्जनी को 'ऩी' स्वर पर स्थापित कर मिज़राब के आघात के तुरन्त बाद मध्यमा अंगुली को 'सा' के परदे पर जोर से मार कर, तार को दबाकर, ज़मज़मा क्रिया द्वारा 'सा' स्वर की ध्वनि में कण को विलीन कर दिया जाता है।

5. **कृंतन-** कृन्तन में एक ही मिज़राब से दो, तीन अथवा चार खड़े स्वर बिना मींड के केवल अंगुलियों द्वारा निकालने की क्रिया को कृन्तन कहते हैं। यह तंत्री वाद्य की एक विशिष्ट क्रिया है। कृन्तन के लिए मध्यमा अंगुली द्वारा एक बार की अपेक्षा तीन चार बार शीघ्रता से ध्वनि को काटना तथा ध्वनित करना अर्थात् उठाना-रखना इत्यादि क्रिया से जो स्वरावली प्राप्त होती है उसे कृन्तन कहते हैं। आलाप करते समय तथा झाला वादन विधि में भी कृन्तन क्रिया चमत्कार उत्पन्न करती है। सितार वादन में इसका प्रयोग करने से स्वरों के अलग-अलग टुकड़े मालूम नहीं पड़ते बल्कि यह क्रिया एक स्वर का सम्बन्ध् दूसरे स्वर से बनाए रखती है।

6. **खटका** – खटका कण का ही प्रकार है, जिसमें कण की कोमलता न होकर स्वर का जोरदार तथा धक्के के साथ स्पर्श होता है।[2] या जिस स्वर के लिए खटका क्रिया का प्रयोग करते हैं उसे मध्य में रखते हैं। स्वरलिपि करते समय खटके वाले विशेष स्वर को कोष्ठक में बन्द कर दिया जाता है। जिसका भाव है उसके आगे पीछे के स्वरों को लेना। सितार वादन करते समय खटके को मींड, घर्षण एवं कृन्तन क्रिया द्वारा लिया जाता है। उदाहरण के लिए - म ग रे, प ध रे सा।

7. **ज़मज़मा-** उर्दू भाषा में ज़मज़मा का अर्थ है स्वर योजना। सितार वादन में यह क्रिया जब दो स्वरों को एक दूसरे के बाद एक ही आघात में जल्दी-जल्दी बजाने से जो एक प्रकार की हिलती हुई आवाज उत्पन्न होती है, उसे ज़मज़मा, कहते हैं। यह क्रिया दो अंगुलियों की सहायता से होती है। जब एक स्वर को तर्जनी अंगुली द्वारा दबाकर ध्वनि उत्पत्ति करके उससे

अगले स्वर पर मध्यमा अंगुली द्वारा जोर से मारने पर उसकी हल्की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है, इस क्रिया को कम से कम दो बार या अधिक बार करना ही ज़मज़मा, कहलाता है।

8. **मुर्की -** मुर्की में तीन, चार, पाँच स्वर अत्यन्त द्रुत गति में बजाए जाते हैं किन्तु मिज़राब का प्रहार एक बार ही होता है। सितार बजाते समय मुर्की को बाएँ हाथ की मध्यमा तथा तर्जनी दोनों से मींड या, कण एवं घर्षण द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

9. **गमक-** जब स्वरों को विशेष रूप से सौन्दर्यपूर्वक वेग गति से कम्पित किया जाए तो उसे गमक कहते हैं। गमक का सम्बंध् कम्पन तथा घसीट दोनों से है। गमक क्रिया का प्रयोग सितार में, किसी एक परदे पर तर्जनी, मध्यमा दोनों अंगुलियों के संयुक्त दबाव द्वारा तथा झटके से किसी एक स्वर से दूसरे स्वर पर वेग गति से जाते समय किया जाता है। किसी स्वर की श्रुतियों को उससे आगे-पीछे के स्वरों की श्रुतियों में इस प्रकार मिला दिया जाए कि आगे-पीछे के स्वर सुनाई न देकर जिस स्वर पर गमक का प्रयोग हो तो केवल वही वेग गति से कम्पित स्वर सुनाई दे तो इस क्रिया को गमक कहते हैं।

10. **आलाप -** सितार वादन में सर्वप्रथम राग विकास क्रिया में आलाप का स्थान है। भारतीय संगीत में आलाप राग का आधार स्तम्भ होता है, जिस पर राग रूपी भवन टिका हुआ होता है। गत, गीत अथवा धुन राग के बाह्य रूप का निर्माण करते हैं पर आलाप तो राग की आत्मा है। अतः राग विस्तार में आलाप द्वारा राग की सुन्दरता केन्द्रित रहती है। राग की आकृति बनाने के लिए, एक-एक स्वर रूपी ईंटों का आलाप क्रिया में जब कलाकार बढ़ाते चले जाते हैं, तो राग रूपी भवन का निर्माण होता है। आलाप विधि करने का प्रथम चरण है 'स्वरित' अर्थात् 'छेड़'।

11. **कम्पन-** स्वर को हिलाने से कम्पन पैदा होता है। सितार पर जिस स्वर को कम्पित करना होता है उस स्वर के परदे पर अंगुली रखकर अंगुली को कम्पित किया जाता है। साथ ही मिज़राब द्वारा आघात किया जाता है। "Kampan or Andolan mean a free swinging note that also alow the sounding of a higher note."[3] कम्पन को प्रत्येक स्वर पर और बिना जरूरत के नहीं करना चाहिए क्योंकि हर स्वर को हिला कर बजाने से बाज की गम्भीरता खत्म हो जाती है और स्वर को ज्यादा हिलाते रहने से स्वर की शुद्धता नष्ट हो जाती है। कम्पन को पाश्चात्य संगीत में (Shake) या (Tremolo) कहा जाता है।

12. **गिटकड़ी-** चार स्वरों के समूह को शीघ्रता पूर्वक एवं कोमलता सहित बजाया जाता है तो उसे गिटकरी कहते हैं। अर्थात् एक छोटा अलंकार जिसमें एक स्वर के आसपास के स्वरों में गूंथ दिया जाता है, जैसे - 'प म ग म', 'नी ध प ध', 'रे सा ऩी सा' इत्यादि। इन स्वर समूहों को एक ही आघात में जल्दी से बजाया जाता है एवं एक स्वर समूह एक ही मात्रा में खटके के साथ लिया जाता है। इसमें स्वरों की गति संचारी व चक्राकार होती है।

13. **छूट-** सितार वादन करते समय इस क्रिया में छूट बाएँ हाथ की तर्जनी अंगुली से तार को मन्द्र सप्तक के ध् स्वर पर दबा कर, मिज़राब का प्रहार करते हुए बाएँ हाथ की अंगुली को परदे से फिसला कर वेग गति से कई स्वरों को छोड़ते हुए मध्य सप्तक के ध् पर रूकते हैं तो इस क्रिया को छूट कहते हैं। यह क्रिया आरोहात्मक, अवरोहात्मक तथा किसी भी निश्चित स्वर से लौटते हुए की जाती है।

14. **झाला**- सितार वादन में झरने जैसी निरन्तरता लिए हुए, गति में बजने वाली इस क्रिया में तारों को एक विशेष प्रकार से छेड़ा या झंकार उत्पन्न किया जाता है उसे झाला कहते हैं। दूसरे शब्दों में बाज और चिकारी के तार पर एक समान लय में और ध्वनि को बिना खण्डित किए, क्रम से मिज़राब द्वारा प्रहार करके दा रा रा रा बजाने की क्रिया को झाला कहते है यह क्रिया द्रुत गत के पश्चात् की जाती है। वादक कलाकार अति द्रुत गति में हस्त कौशल का प्रदर्शन करते हुए गति की निरन्तरता को बनाए रखता है। झाले की सुन्दरता उसकी निरन्तरता पर निर्भर करती है। एक टिकी हुई लय में झाला और भी आकर्षक लगता है। इसमें मिज़राब के विभिन्न बोलों छन्दों का प्रयोग इस क्रिया को और भी आनन्ददायक बना देता है। मिज़राब के बोलो को बाज और चिकारी के तारों पर प्रहार कर तथा मिज़राब के बोलो में फेर बदल कर विभिन्न प्रकार के झाले बनाए जाते हैं।

15. **लागडाट-** जब सितार वादक बाएँ हाथ की तर्जनी को किसी भी एक स्वर से अन्य दूर के स्वर तक ले जाए तो जिस स्वर से चले उसे लाग का स्वर तथा जिस पर ठहरे उसे डाट का स्वर कहा जाता है।[4] वास्तव में सितार पर लम्बी मींड लेना सम्भव

नहीं होता जैसे की गिटार में लेते हैं। सितार में एक परदे से अधिक से अधिक चार या पाँच स्वरों की मींड ली जा सकती है। किन्तु कुशल सितार वादक लागडाट द्वारा श्रोताओं को लम्बी मींड का भ्रम डाल देते हैं। ऐसी क्रिया में मींड और घसीट का मिश्रित रूप प्रदर्शन में लाया जाता हैं जैसे- मन्द्र 'प़' से मध्य 'प' तक आने के लिए बाएँ हाथ की दोनों अंगुलियों को मन्द्र प़ पर रखकर मिज़राब के आघात के तुरन्त बाद में घसीट कर 'ग' के परदे पर ले आना और बिना बिलम्ब किए तार को अनुलोम मींड में खीच कर मध्य सप्तक के 'प' स्वर की ध्वनि पर ठहरना। अतः इस क्रिया में मन्द्र 'प़' को 'लाग' तथा मध्य 'प' का स्थान जिस पर पहुँचे उसे 'डाट' कहा जाता है। इस प्रकार एक ही आघात से लम्बी मींड का भ्रम इस क्रिया से उत्पन्न किया जा सकता है। यह क्रिया आरोहात्मक तथा अवरोहात्मक दोनों ढंग से की जा सकती है।

16. **लड़गुथाव-** लड़गुथाव क्रिया का उद्गम दो शब्दों के मेल से हुआ हैं लड़+गुथाव, लड़ से भाव है लड़ी अर्थात् कुछ सीमित स्वरों की परिधि में स्वरों के विविध् घुमाव - फिराव को लड़ी कहते हैं तथा गुथाव से भाव है स्वरों के विविध् घुमाव - फिराव से जो लड़ी बनी है उसे सजाने की क्रिया को गुथाव कहते हैं। अर्थात् स्वर समुदाय की लड़ी को अलग-अलग स्वरों से आरम्भ करना तथा सजाना लड़ गुथाव कहलाता है।

    यह क्रिया बाएँ हाथ से की जाती है। इसे खड़े स्वरों तथा मींड द्वारा भी किया जा सकता है। लड़ी का एक उदाहरण - 'सा ग ग रे सा रे रे सा', इस लड़ी के क्रम को बढ़ाना सा ग ग रे सा रे रे सा, सा ग सा ग ग रे, सा रे सा रे रे सा, सा ग सा रे रे सा, रे ग सा रे रे सा, सा ग रे सा, इत्यादि लड़ी को बढ़ाना तथा इसी प्रकार अलग-अलग स्वरों से सजाना लड़ गुथाव कहलाता है। इसमें बाएँ हाथ की दो अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है।

17. **तारपरन -** तबला वादन की क्रिया को जब सितार पर परन के बोलों के अनुरूप स्वर समुदाय द्वारा तथा मिज़राब के प्रयोग से जिस क्रिया का वादन होता है, उसे तारपरन कहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी भी राग के वादी, संवादी तथा राग वाचक स्वरों का ध्यान रखते हुए तबले की परन पर आधरित स्वर समुदाय के प्रयोग को तारपरन कहते हैं। इस क्रिया में तान, कृन्तन, ज़मज़मा, मिज़राब के विभिन्न बोलो इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग होता है।

18. **ज़रब -** क्रमबार स्वरों पर मिज़राब के प्रहार का वजन बदलते रहने की क्रिया को ज़रब कहते है। ज़रब एक मिज़राब द्वारा उत्पन्न होने वाली ऐसी क्रिया है, जिसमें मिज़राब के वजन को प्रदर्शित किया जाता है। मिज़राब के वजन को अलग-अलग मात्राओं पर प्रत्येक आवर्तन में दिखाया जाता है। ज़रब का कार्य छन्द, छेड़ इत्यादि क्रियाओं के लिए उपयुक्त है जिसे दोनों हाथों द्वारा बजाया जाता है।

निष्कर्ष- उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सितार वादन में ध्वनि की उत्कृष्टता और सौन्दर्य का आधार **अलंकारों का सही एवं संतुलित प्रयोग** है। प्रत्येक अलंकार का अपना विशिष्ट स्वरूप और प्रभाव होता है, जो राग की प्रकृति के अनुसार प्रयुक्त होने पर वादन को जीवंत और भावपूर्ण बनाता है। मींड, गमक और कण जैसे अलंकार स्वरों को कोमलता और गहराई प्रदान करते हैं, जबकि झाला, कृंतन और ज़रब जैसे अलंकार गति, ऊर्जा और आकर्षण उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार आलाप राग की आत्मा को प्रकट करता है और सम्पूर्ण प्रस्तुति को आधार प्रदान करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि— सितार वादन में नाद-सौन्दर्य केवल स्वरों की शुद्धता से नहीं, बल्कि उनके **भावात्मक एवं कलात्मक प्रस्तुतीकरण** से विकसित होता है, अलंकारों का ज्ञान-अभ्यास एवं उचित प्रयोग ही एक साधारण वादन को उत्कृष्ट कला में परिवर्तित करता है, एक सफल सितार वादक वही है जो तकनीकी दक्षता के साथ-साथ सौन्दर्य-बोध और संवेदनशीलता का समन्वय स्थापित कर सके। इस प्रकार, अलंकारों के माध्यम से ही सितार वादन अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और श्रोताओं के मन में गहरी छाप छोड़ता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. शर्मा, डॉ., स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण, पृ॰ 270
2. शर्मा, डॉ., स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण, पृ॰ 272
3. परांजपे, श्रीधर, शरदचन्द्र, संगीत बोध, द्वितीय संस्करण 1980, पृ॰ 164
4. शर्मा, भगवत शरण, सितार मलिका, , पृ॰ 20

आध्यात्मिक परम्पराओं में मौलिक समन्वय

सौरभ कान्त त्रिपाठी*

शोध सार

हिन्दू धर्म के सभी दर्शन में अनेक सिद्धांत प्रतिपादित हैं जिसके माध्यम से जीव, ब्रम्ह, आत्मा, पुद्गल, प्रमाण चार आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुदपाद, स्यादवाद, मायावाद आदि विषय पर चर्चा हमे प्राप्त होती है| इन सभी सिद्धांतो में विभेद होते हुए भी अंतिम लक्ष्य या भावना एक ही है वो है इस संसार या भवचक्र से मुक्ति|

मुक्ति को भी अलग अलग दर्शनों में अनेक नाम से प्रसिद्धि मिली जैसे निर्वाण (बौद्ध), कैवल्य, समाधि, मोक्ष|

वेदान्तः-"वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः" वेदों के अंतिम भाग(उपनिषद) को वेदान्त कहते हैं|जो वेदों के अंतिम ध्येय और सार की शिक्षा देता है वह वेदान्त है|वेदान्त का लक्ष्य भी मोक्ष या मिथ्या अज्ञान रुपी जगत से मुक्ति ही है|

शैव और शाक्त दर्शनः-शैव और शाक्त दोनों ही प्रायः समान तत्त्व हैं। इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है, विषयवस्तु का चयन या दार्शनिक चिन्तन का प्रवाह भी एक ही जैसा है। अन्तर केवल परमतत्व को शिव और शक्ति के रूप में अलग-अलग मानने का है। शैव और शाक्त में भेद केवल आग्रह का है। शैव एवं शाक्तों की दृष्टि में परमतत्त्व क्रमशः शिव अथवा शक्ति हैं। ये दोनों एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं, अद्वैतवादी हैं। दोनों ही छत्तीस तत्वों की मान्यता स्वीकृत करते हैं। शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरङ्ख्यादिभिरपि प्रणन्तुं वा शक्तः कथमकृतपुण्यं प्रभवति ।।

जैन एवं बौद्ध दर्शन- जैन हेत्वाभास,नयवाद,स्यादवाद,सप्तभंगीनय आदि अनेक सिद्धांतो से सत्य की प्राप्ति या निर्वाण(मोक्स्तत्व) तथा बौद्ध वैभाषिक सिद्धान्त, महाभिनिष्क्रमण, द्वादश आयतन, अष्टादश धातु, चार आर्यसत्य,प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुशरण करते हुए मुख्य लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति या निर्वाण ही है|

#हिन्दू धर्म में वेदान्त,शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध एवं जैन जैसी अनेक धाराएँ समाहित हैं। मतभेदों के उपरान्त भी मूल भावना एक ही होने के कारण इन सब का सह-अस्तित्व बना रहा|

1. प्रस्तावना : "वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः" वेदों के अंतिम भाग(उपनिषद) को वेदान्त कहते हैं|जो वेदों के अंतिम ध्येय और सार की शिक्षा देता है वह वेदान्त है|वेदान्त का लक्ष्य भी मोक्ष या मिथ्या अज्ञान रुपी जगत से मुक्ति ही है|

शैव और शाक्त दर्शनः-शैव और शाक्त दोनों ही प्रायः समान तत्त्व हैं। इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है, विषयवस्तु का चयन या दार्शनिक चिन्तन का प्रवाह भी एक ही जैसा है। अन्तर केवल परमतत्व को शिव और शक्ति के रूप में अलग-अलग मानने का है। शैव और शाक्त में भेद केवल आग्रह का है। शैव एवं शाक्तों की दृष्टि में परमतत्त्व क्रमशः शिव अथवा शक्ति हैं। ये दोनों एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं, अद्वैतवादी हैं। दोनों ही छत्तीस तत्वों की मान्यता स्वीकृत करते हैं। शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरङ्ख्यादिभिरपि प्रणन्तुं वा शक्तः कथमकृतपुण्यं प्रभवति ।।

* सहायक प्राध्यापक, हिन्दू अध्ययन, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ओपन यूनिवर्सिटी, अहमदाबाद
saurabh.research2025@gmail.com, Phone:-8542926568

जैन हेत्वाभास, नयवाद, स्यादवाद, सप्तभंगीनय आदि अनेक सिद्धांतो से सत्य की प्राप्ति या निर्वाण(मोक्षतत्व) तथा बौद्ध वैभाषिक सिद्धान्त,महाभिनिष्क्रमण,द्वादश आयतन,अष्टादश धातु, चार आर्यसत्य,प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुशरण करते हुए मुख्य लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति या निर्वाण ही है|

भारतीय परंपरा में मौलिक समन्वय

भारतवर्ष की प्राणभूत आध्यात्मिक चिंतन परंपरा में प्रदीप्त मुकुटमणि की तरह अद्वैत वेदान्त की मान्यता सार्वजनिक है|

मुख्यतः वेद का अंतिम भाग ही वेदान्त कहलाता है| वेद दो भागों में विभक्त है मंत्र एवं ब्राह्मण| किसी देवता को ऋचाओ द्वारा सम्बोधित करना या वैदिक सूक्त अथवा देवताविशेष के प्रार्थनापरक अर्थस्मारक वाक्य को मंत्र कहा जाता है| ब्राह्मण वेद का वो भाग जिसके माध्यम से अनेक यज्ञों के विषय में मंत्रो के विनियोग तथा विधियों का प्रतिपादन करता है;एवं उनके मूल और विवरणात्मक व्याख्या को तत्वसम्बन्धी निदर्शनों के साथ,उपाख्यानों के रूप में विद्यमान हैं,प्रस्तुत करता है|ब्राह्मणभाग वेद के मन्त्रभाग से पूर्णरूप से पृथक है|दार्शनिक एवं तार्किक विचारों का उत्कर्ष वेदान्त में ही प्राप्त होता है| वेदान्त वेद के अंतिम ध्येय एवं लक्ष्य की शिक्षा देता है अथवा इसलिए की यह उपनिषदों पर आधारित है, जो वेद का अंतिम भाग है|

दर्शनों में वेदान्त उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है| वेदान्त के अनुसार समस्त विश्व एक ही अनादि शक्ति या ब्रम्ह अथवा ईश्वर का ही संश्लिष्ट रूप है| वैदिक उपनिषदों के रहस्ययुक्त सिद्धांतो के प्रतिपादन करने के कारण वेदान्त शब्द का प्रयोग सबसे उपयुक्त ज्ञात होता है|

विषयवस्तु के अनुसार ऋक,यजु:,साम एवं अथर्व तीन खण्ड में विभक्त है-कर्मा,उपासना और ज्ञान| क्रमश: संहिता,ब्राह्मण और आरण्यक इनके परिचायक हैं|विषय की दृष्टि से उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है|

वेदान्त में ब्रम्हविचार

ब्रम्ह शब्द की व्युत्पत्ति बृम्ह धातु से मनिन प्रत्यय लगाने पर सम्पन्न हुई है| यहाँ धातु के ऋकार को रत्व में तथा प्रत्यय के नकार को अकार में परिवर्तित कर ब्रम्ह शब्द निष्पन्न हुआ है|यहाँ ब्रम्ह का अर्थ है-सच्चिदानंदस्वरूप जगत् का मूल तत्व परमात्मा| शङ्कर के अनुसार निरतिशयं भूमाख्यं बृहदत्वाद ब्रह्मेति विद्धि (केनोपनिषद-1.5)।

अपनी महत्ता के कारण निरतिशय अथवा भूमा ब्रह्म कहलाता है।परमार्थ सत की दृष्टि से अद्वैत दर्शन के अनुसार एकमात्र बा कूटस्य, नित्य, निष्क्रिय, नित्यतप्त, निरवयव, चैतन्य और आनन्दरूप है-इदं तु पारमार्थिक परमतत्व है। ब्रह्म को छोड़ कर संसार की कोई वस्तु सत् नहीं है। ब्रह्म स्वयंप्रकाश (भाष्य 1.4)। वह अमृत और अजर है। सत. चित. आनन्द उसका स्वरूप है। यह बा कुटस्थं नित्यं व्योमवत सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यवृत्तं निरवयवं स्वर्यज्योति:स्वमावम् सत्य है, असत् नहीं है। वह चित् है. अचित नहीं है। वह चैतन्य ज्ञानस्वरूप है. वह आनन्द है अर्थात पर्ण होने से आनन्दरूप है। ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद्) । अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही सत् है। सत का त्रिकाल में बाघ नहीं होता है- त्रिकालाऽबाधत्वं सत्त्वम् । ब्रह्म सदैकरस एवं अपरिणामी है। ब्रह्म ही सत है। वही परमार्थ है। ठीक इसके विपरीत असत् है। इसकी त्रिकाल में कोई सत्ता नहीं है। सत् के रूप में इसकी प्रतीति सम्भव नहीं है-क्वचिदप्यपाधौ सत्त्वेनप्रतीत्यनर्हत्वमनाऽवाघत्वं सत्त्वम् । इस अर्थ में वन्ध्यापन एवं खपुष्प आदि उदाहरण है। सत् ही ब्रह्म है और इस ब्रह्म का त्रिकाल में विनाश नहीं होता है।

शैव सिद्धांत

शैव सम्प्रदाय में शिव को परम यथार्थ सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है|शिव को अनादि अजन्मा सर्वथा निर्दोष,निर्विकल्पक और सर्वज्ञ माना गया है| सभी कार्यों को कर्तृत्व उनमे समाहित है| जीवों के लिए मोक्ष प्राप्ति के लिए मोक्षद भी शिव ही है|

शिव नित्य एवं स्थायी हैं तथा काल के द्वारा बाध्य नही है|शैव दर्शन में शिव अपनी शक्ति के माध्यम से ही व्यापार करते हैं|शक्ति को ही शिव के कारणरूप का साधन है|शिव शक्ति का ही नाम कुण्डलिनी या शुद्ध माया है|शिव या रूद्र की उपासना वेदों के समय से प्रचलित है|यजुर्वेद का शतरुद्रीय अध्याय प्रसिद्ध है|तैत्तिरीय आरण्यक (कृष्ण यजुर्वेद) में इस समस्त विश्व को रुद्ररूप बताया गया है|श्वेताश्वतर आदि कुछ उपनिषदों में,महाभारत में तथा कुछ पुराणों में शिव की महिमा का वर्णन प्राप्त होता है|माधवाचार्य ने चार शैव मतों का वर्णन किया है:-

1) नकुलीश-पाशुपत
2) शैव
3) प्रत्यभिज्ञा, और
4) रसेश्वर

शैवसिद्धान्त के २८ आगम हैं। पाँचवों से नवीं शती उक दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में कई महान् शैव सन्त-कवि हुये जिनमें अप्पर सम्बन्ध(शिवज्ञानमम्बन्ध) और सुन्दार (सुन्दरपूर्ति) प्रसिद्ध है। इनके भक्तिरसपूर्ण स्तोत्रों का संग्रह 'तिरुगुरे' नाम से विख्यात है। माणिक्कवासगर (माणिक्दवासक, ७यों शती) को कृति 'तिरुवासगम्' प्रसिद्ध है। मइकण्डा (१३यों शती) के शिवज्ञानबोधम् को सिद्धान्त-दर्शन को व्यवस्थित रूप देने वाला प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इनके शिष्य अरुल्लन्दी शिवाचार्य का ग्रन्थ शिवज्ञानसिद्धयर प्रसिद्ध है। श्रीकण्ठ शिवाचार्य (१४वों राती) ने बहह्यसूत्रभाष्य लिखा है जिस पर अप्पय दीक्षित को शिवार्कमणिदीपिका नामक टीका है जो शैव दर्शन की सामान्य दृष्टि से है. सिद्धान्तदर्शन को विशेष दृष्टि से नहीं है।

शैवसिद्धान्त स्वयं को 'शुद्धाद्वैत' कहता है जो वल्लभाचार्य के वेदान्तसम्प्रदाय का नाम है।

काश्मीर शैव मत

काश्मीर शैव मत को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन और त्रिक-दर्शन भी कहते हैं। यह स्वातन्त्र्यकाद ईश्वराद्वयवाद तथा शिवाद्वैत के नामों से भी विख्यात है। काश्मीर शैव दर्शन के मूल स्रोत शैवागम या तन्त्र हैं। दार्शनिक दृष्टि से शिवसूत्र इस मत के आधार सूत्र हैं जिनके लिये यह प्रसिद्ध है कि वे आचार्य वसुगुप्त को स्वप्न में भगवान् शिव से प्राप्त हुये थे। बसुगुप्त (८वीं शती) को स्पन्दकारिका, सोमानन्द (९वीं शती) को शिवदृष्टि, उत्पलदेव (१०यों राती पूर्वार्ध) की प्रत्यभिज्ञाकारिका, अभिनवगुप्त (१०वीं शती उत्तरार्ध) की प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, परमार्थसार और तन्त्रालोक तथा क्षेमराज की शिवसूत्र-विमर्शिनी और स्पन्दसन्दोह इस सम्प्रदाय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।इस मत में एक अद्वय शिव ही परम तत्त्व है जो परमात्मा, परमेश्वर, परमशिव, अनुत्तर आदि नामों से अभिहित हैं। परमात्मतत्त्व होने के कारण शिव शुद्ध चैतन्य है। किन्तु यह चैतन्य, अद्वैत वेदान्त के समान, ज्ञातृ-ज्ञेय या विषयि-विषय रहित या क्रियाशून्य नहीं है। चैतन्य या चित् सदा शकिरूप होता है जिसमें स्वाभाविक क्रिया या स्पन्द या स्फुरण बना रहता है। शुद्ध चैतन्य चित्-शक्ति है, आत्म-चेतना है, अपने स्वातंत्र्य और आनन्द का स्वाभाविक स्फुरण है। चैतन्यस्वरूप परमतत्त्व को शक्तिरूप मानना इस दर्शन की विशेषता है। परमशिव पराशक्तिस्वरूप हैं। शिव और शक्ति परस्पर पृथक् नहीं रह सकतेः चन्द्र और चन्द्रिका के समान उनमें कोई अन्तर नहीं है। शिव प्रकाशरूप हैं और शक्ति विमर्शन है।

वीरशैव मत

शैव सम्प्रदायों में गैव-सिद्धाना द्वैतवाद प्रत्यभिज्ञानवादी और और जिस प्रकार वेदना सम्प्रदायों में ताम्हैौ मशा अमित प्रदेश, प्रत्यभिज्ञादर्शन का काश्मीर और चीरशैव मत का केन्द्र अर्नाटक प्रदेश हा है। इस माह के मुख्य प्रचारक वसव (रुस्यों शती) है। श्रीपति (११भी गती) का सूपर श्रीकरभाष्य और श्रीशिवयोगी शिवाचार्य का सिद्धान्त-शिखामणि इस पर के प्रसिद्ध एन्थ है। इस मत के अनुयायियों को लिङ्गायत मा जङ्गय कहते हैं। ये लोग शिलिङ्ग को अपने गले में पहने रहते हैं या शरीर के साथ रखते हैं।

बोररीय या शक्तिविशिष्टाद्वैत मा भेदाभेदविशिष्टाद्वैत निष्काम कर्म पर बल देता है। इसे बीरधर्म या बोरमार्ग भी कहते हैं। गतिविशिष्टाद्वैत का अर्थ है गतिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव का अद्वैत अर्थात् परस्पर समस्या एकाकतका मा परशिव में अपृथक् सिद्धरूप से रहने वाला विशेष शिव को क मुश्मभिरभिविशिष्ट है और जीव की गति स्यूतचिदधिविशिष्ट है। अनि और उसकी राह-पाक-प्रकाशरूप गडियों के समान शिव और गति में अभेर है। अधो अधिनाभाव सम्बन्ध और सम वाय सम्बन्ध भी कहा जाता है। पाशिव की को सर्वज्ञतारूप और सूक्ष्म-अचित्-शति को सर्वकर्तृत्वरूप माना जाता है तथा इन दौरों की आश्रयभूह इच्छाशक्ति को विनर्वाशक्ति कहा जाता है। जब यह विधर्माशकि जड़ पाया में प्रविष्ट होकर त्रिगुणात्मक हो जाती है तो इसे 'प्रकृति' कहा जाता है। बीरशैव मत इस प्रकृति को चित' कहता है। पाशिव का चित्तशतिविशिष्ट अजीब है। अभियुतियत् शिव और जीवों में पारमार्थिक भेदाभेद है। यदि अग्नि और स्कुलिङ्गों (अग्नि-काचे) में आसी और अंश में अत्यन्त अभेद मानें तो अग्निकणों से भी पाकादि किया सम्मान होनी बाहिये और यदि दोनों में अत्यन्त भेद मानें तो अग्नि-कणों को शोटल मानना पड़ेगा। इसी प्रकार शिव और जीवों में अत्यन्त अभेद हो तो जीवों में भी सर्वज्ञत्व, सर्वकी आदि मानने पड़ेंगे तथा उनमें अत्यन्त भेद हो तो जीवों को घटपटादिवत् अचेतन मानना होगा। अतः शिव और देवों में पारमार्थिक भेदाभेद सम्बन्ध ही स्वीकार करना पड़ता है। बीर के अनुसार यह जग परशिव से उत्पन्न हुआ है, अतः सत्य है। सत्य और नित्य होने के कारण जा उत्पत्ति-विनाशरहित है। उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव या विकाप्त तथा संहार का अर्थ तिरोभाव या सोच है। जगत् शिव का परिणाम है। जैसे कवा दलले समय पैर बाहर निकाल लेता है और बैठते समय अन्दर कर लेता है, वैसे ही जगत्को उत्पतिशास शक्ति-सङ्कोच है। इस मत में भी छत्तीस तत्व स्वीकार किये गये हैं।

शाक्त सम्प्रदाय

शक्तिपूजा वैदिक काल से हो चली आ रही है। केनोपनिषद् में 'उमा हैमवती' का उल्लेख है। शैवों ने शक्ति को शिव की अर्धाङ्गिनी माना है तथा शिव से अभिन्न चित्-शक्ति के रूप में उन्हें पूर्ण स्वातन्त्र्य तथा पूर्ण आनन्द रूप स्वीकार किया है। शैवों के अनुसार परम तत्त्व परम शिव है और शक्ति उनकी अभिन्न चित्-शक्ति है। शाक्तों के अनुसार परम तत्त्व पराशक्ति है तथा शिवभाव गौण है। पुराणों में शक्ति को देवी, चण्डी, चामुण्डा, दुर्गा, उमा, महामाया आदि नामों से अभिहित किया गया है। शक्ति के बिना शिव 'शव' है क्योंकि उनमें स्मन्दन भी नहीं हो सकता। शक्ति सच्चिदानन्दस्वरूपिणी है। माया या प्रकृति उन्हों के अन्तर्गत है। यह समस्त चराचर विश्व, शक्ति का उन्मेष है और उसी के अन्तर्गत है। मन्त्र और तन्ब पवित्र, गोपनीय और दिव्य होते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् करने को तथा षट्चक्रभेदन की साधना मुख्य है। नादयोग की प्रशंसा की गई है। जीवन्मुक्ति मान्य है। शाक्त-तन्त्र अद्वैतवादी है। तन्त्र का ध्येय उपासक का उपास्य के साथ तादात्म्य स्थापित करना है।

शाक्त तन्त्र के तीन प्रमुख आचार है- कौलाचार, समयाचार और मिश्राचार। तान्त्रिक आचार परम गोपनीय रखे जाते हैं। गुरु दीक्षित शिष्य को ही इनका रहस्य बताते हैं। ग्रन्थों में भी इनका बहुधा प्रतीकात्मक वर्णन मिलता है। शाक्त तन्त्र की साधना चुने हुये अधिकारों साधकों के लिये होती है और सदा गोपनीय रखी जाती है। कौलाचार के विषय में कई भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं। वाममार्गी कौल पञ्च-मकार (मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन) का सेवन करते हैं। वामाचार के कारण इनमें कई घृणित एवं कुत्सित क्रियाओं का प्रचलन हुआ जो उनके पतन का कारण बना। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से पञ्च-मकार का अर्थ आध्यात्मिक रहस्य साधना से किया जाता है। कौलाचार के प्रमुख तन्त्र 'कुलार्णव' में मद्य, मांस, मैथुनादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की निन्दा की गई है। कुल' का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी तथा 'अकुल' का अर्थ है शिव। जो व्यक्ति योग द्वारा षट्चक्र भेदन करके कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार ये स्थित शिव के साथ मिलन कराता है यही कौल है। पञ्च-मकारों का भी रहस्यमय गूढ़ अर्थ है। गया, सहलार से जो सुधा क्षरित होती है वह 'मद्य' है, साधारण मदिरा नहीं। इसी प्रकार

सुषुम्ना और प्राण का कुण्डलिनी और शिव का मिलन 'मैथुन' है, स्त्री-सम्भोग नहीं। इससे स्पष्ट है कि अत्यन्त उच्चकोटि का साधक ही वामाचार का अधिकारी हो सकता है।

सपयाचार 'श्री-विद्या' के उपासकों का आधार है। इसमें अन्तर्याग अर्थात् आन्तरिक उपासना का प्राधान्य है। यथा पश्च मकार का प्रत्यक्ष प्रयोग न करके इनके अनुकल्प का प्रयोग किया जाता है। ललितासहस्रनाम के सौभाग्यभास्कर भाष्यकार भास्कर राय तथा सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर शाक्ततन्त्र के प्रख्यात विद्वान् है। समयाचार में भी मूलाधार में मुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् कर षट्-चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र) भेदन करके सहलार स्थित शिव के साथ उसका मिलन कराना मुख्य लक्ष्य है। शाक्त-तन्त्र में घरा शक्ति को 'त्रिपुर सुन्दरी' कहते हैं। ये सच्चिदानन्दस्वरूपा समरसा है। ललिता और नित्याषोडशिका भी इन्हीं के नाम हैं। ये स्वातन्त्र्य, सौन्दर्य और आनन्द की पराकाष्ठा है। मुक्ति स्वरूपानुभव है। जीवन्मुक्त गीता के स्थितप्रज्ञ के समान है जिसके लिये कर्दम-चन्दन, शत्रु-मित्र मृत्पिण्ड-स्वर्ण दुःख-सुख, मृत्यु-जीवन सम है। यह शाक्त-तन्व का सार है।वस्तुतः अद्वैत वेदान्तसम्मत स्वयंसिद्ध और स्वप्रकाश नित्यचिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व की. अपरोक्ष एवं निर्विकल्प अनुभूति ही अखण्डचिदानन्द है। यही आत्य-लाभ और ब्रद्धाभाव है। यह अद्वैत बुद्धि को द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत कोटियों से सर्वया विलक्षण और उन सबके पार है। यह समस्त ज्ञान का, सारे अनुभव कर, बुद्धि की समस्त कोटियों का आधार या अधिष्ठान है। इस अचिन्त्य अनिर्वचनीय तत्व का बुद्धि-कोटियों द्वारा ग्रहण तथा शब्दों द्वारा वर्णन अपूर्ण हो रहेगा। अतः इसे एक-या अनेक, निष्क्रिय या सक्रिय आदि कहना भी अपूर्ण है। इसे तो अपरोक्ष अनुभूति द्वारा ही साक्षात् किया जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में शिवशक्ति सामरस्य शाकदर्शन में कामेश्वर-कामेश्वरी सामरस्य और गौड़ीय वैष्णव दर्शन में श्रीकृष्ण-श्रीराधा सामरस्य उसी पूर्ण चिदानन्दानुभूति को व्यक्त करते हैं। दोनों के सामरस्य में कल्पित द्वैत में तात्विक अद्वैत की अनुभूति ही आनन्दरूप है। नरहरिस्यामों का कथन है कि ज्ञानपूर्वक पति के लिये कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है एवं सामरस्य होने पर जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन, परस्पर अनन्य प्रेम करने वाले दम्पती के मधुर मिलन के समान द्वैत में अद्वैत की अनुभूति के कारण अमृतोपम आनन्द देता है।' विद्यारण्य स्वामी का कथन है कि जोव और ईश्वर दोनों हो मायारूपी कामधेनु के कलर है, भले ही वे इच्छानुसार द्वैत-पान करते रहे, किन्तु तत्व तो अद्वैत ही है और उसी में आनन्द का अनुभव है। महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार ब्रह्मभाव उत्तम है, ध्यानभाव मध्यम है, जप एवं स्तुतिपाठ साधारण है तथा बाह्यपूजा निकृष्ट है।"

वाल्लभाचार्य के वेदान्तसम्प्रदाय में शुद्ध का अर्थ है मायासम्बन्धरहित तथा अद्वैत का अर्थ है त्रिविध-भेदरहित बा। किन्तु शैवसिद्धान्त में शुद्ध का अर्थ है निर्विशेष तथा अद्वैत का उरयं है 'भेदरहित द्वैत' अर्थात् द्वैत तत्वतः सत्य है और अद्वैत सम्बन्धतः सत्य है। जीव और जगत् तत्वतः शिव से भिन्न है, किन्तु उनका शिव से सम्बन्ध अनुयस् अभेद सम्बन्ध है। जीव और जगत् सत्य और नित्य है।

शिव परम तत्व है। उनकी संज्ञा 'पति' है क्योंकि वे सबके स्वामी हैं। उनमें अष्ट गुग विद्यमान है- आत्म-सता, स्वाभाविक पवित्रता, स्वानुभूति, अनन्त ज्ञान, परम स्वातन्त्र्य, अनन्त अनुग्रह गा प्रेम्, सर्वशक्तिमता और अनन्त आनन्द।

निष्कर्ष

भारतीय परम्पराओं में निहित अनेक सिद्धांत हैं और सभी सिद्धांतो में जीवन का लक्ष्य या उद्देश्य इस संसार से मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति ही है|यदि दार्शनिक पक्ष से किसी भी परंपरा को समझा जाये तो सभी का अपना अपना सिद्धांत है जो एक सामान नही है फिर भी सभी परम्पराओं के मूल में एक अपना दार्शनिक पक्ष या पहलु विद्यमान है जोकि सिद्धान्तिक रूप से अलग है फिर भी सबका मूल लक्ष्य एक सामान ही प्रतीत होता है|इस एक मत के दृष्टिकोण से यदि सभी भारतीय परम्परा को तोला जाये तो सब में एक मौलिक

समन्वय प्राप्त होता है,और यही कारण है की सभी भारतीय परंपरा में मतभेदों के उपरान्त भी मूल भावना एक ही होने के कारण इन सब का सह-अस्तित्व बना रहा|

सन्दर्भ ग्रंथ सूचि

1) भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन,चंद्रधर शर्मा,मोतीलाल बनारसीदास,वाराणसी
2) भारतीय दर्शन,जगदीशचंद्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी
3) हिन्दू धर्म में मोक्ष की अवधारणाएँ,डॉ.शारदा पाठक,भारतीय विद्या संस्थान,वाराणसी
4) भारतीय दर्शन की रूपरेखा,प्रो.हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली
5) भारतीय दर्शन की रूपरेखा, हरेंद्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, प्रकाशित वर्ष : 2016
6) भारतीय दर्शन - शोभा निगम, मोतीलालबनारसीदास पब्लिशर्स

भारतीय भाषाओं का महत्त्व

शुभम तिवारी*

शोध सारांश :

"कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पे बानी" अर्थात एक कोस की दूरी (लगभग एक किलोमीटर) पर पानी बदल जाता है और चार कोस(लगभग12 किलोमीटर)की दूरी पर वाणी अर्थात बोली बदल जाती है निश्चित रूप से यह लोकोक्ति भारत की सांस्कृतिक,भाषायी एवं भौगोलिक विविधता को स्पष्ट करती है,भारतीय संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त बाईस भाषाओं: हिन्दी, बंगाली, तमिल, तेलुगु, मराठी, पंजाबी, संस्कृत, उर्दू, असमिया, गुजराती, कन्नड़,मलयालम, उड़िया, डोगरी,बोडो, मणिपुरी, मैथिली,संथाली, कोंकणी,सिंधी और नेपाली के साथ ही लगभग 1400 बोलियाँ पूरे देश में प्रयोग में आती हैं ,भाषाएँ संस्कृति की संवाहिका होती हैं,भारतीय भाषाओं का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि इन भाषाओं के जानकार जहाँ भी जाते हैं अपनी भाषा और संस्कृति को भूलते नही हैं भारतीय संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 22 भाषाएं और लगभग 1400 बोलियाँ देश की भाषाई समृद्धि को प्रकट करती हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के भीष्म पितामह भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने लिखा है :

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को शूल।।"

अर्थात अपनी भाषा (मातृभाषा) ही सभी प्रकार की सफलता (उन्नति) का मूल(प्रमुख) आधार है। स्वयं की भाषा की उन्नति,संवर्धन ,विकास के बिना संपूर्ण विकास संभव नहीं हो सकता है। शिशु के जन्म के पश्चात उसका घर ही उसका पहला विद्यालय(पाठशाला)होता है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र जी की यह उक्ति पूर्णरूपेण सत्य है कि अपनी भाषाकी(निजभाषा की,मातृभाषाकी) उन्नति के बिना किसी भी उन्नति का कोई महत्व नहीं रह जाता।

अपनी भाषा में विद्यार्थी जब अध्ययन प्राप्त करता है तो वह उसे शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है और जब वह मातृभाषा में अध्ययन प्राप्त करता है तो इसके माध्यम से भाषा का विकास ,संरक्षण एवं संवर्धन भी होता है।

बीजशब्द (KEY WORDS) : भाषा, साहित्य, संस्कृति, क्षेत्रीय, लोकभाषा, मातृभाषा, पतंजलि, जीव, भाव, अभिव्यक्ति।

प्रस्तावना :

भाषा शब्द संस्कृत की भाष धातु से बना है जिसका अर्थ होता है कहना ,प्रकट करना अथवा प्रकाशित करना। भाषा को मानवीय सभ्यता के विकास की सर्वोत्तम उपलब्धि माना जाता है । इस सृष्टि के अन्दर मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसको वाक्शक्ति प्राप्त है ,वाणी यद्यपि होती तो सभी जीवों में है परन्तु हो सकता है कि अभी तक उन जीवों की भाषा का व्याकरण हम मनुष्य न समझ पाए हों क्योंकि पक्षी,अन्य जीव भी एक दूसरे की भाषा को समझ लेते हैं, श्रीरामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है: समुझै खग ,खग ही कै भाषा । भी एक जिस समाज की भाषा जितनी अधिक समृद्ध एवं प्रभावशाली होती है उसकी संस्कृति उतनी ही व्यापक एवं उन्नत होती है,वैदिक संस्कृत,लौकिक संस्कृत ,प्राकृत ,पाली ,अपभ्रंश ,आधुनिक हिन्दी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ, भाषाओं के क्रमिक विकास एवं ग्रहण करने ,समझ सकने की सरलता का ही एक उदाहरण हैं,

---

* Assistant Professor (Hindu Studies), & Research Scholar, Dr. Babasaheb Ambedkar Open University, Mobile: 7518455490, Mail id:shubhambrh50@gmail.com

भाषाएँ संस्कृति का भी प्रतिनिधित्व करती हैं सांस्कृतिक एकता भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। विचार,मनन एवं चिन्तन के साथ भावों की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम भाषा ही होती है

संस्कृत भाषा में श्रृंगारशतक ,वैराग्यशतक,नीतिशतक के रचयिता एवं प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य भर्तहरि के अनुसार-

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानम् सर्व शब्देन भासते ।।'

वाक्यपदीय,ब्रम्हकांड 123-124

अर्थात् संसार में जिसका ज्ञान प्राप्त किया गया हो (ज्ञात) कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो शब्द का आश्रय न लेता हो (शब्दाश्रित न हो)। सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से ही उत्पन्न हुआ भाषित(दिखाई) होता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही है कि यहाँ पर “शब्द” भाषा को इंगित करता है ।

अन्यत्र एक उक्ति में कहा गया है 'वचनमेव प्रसादेन लोक यात्रा प्रवर्त्तते।" (अर्थात् वचन(शब्द,भाषा) के माध्यम से संसार की यात्रा भी सरल एवं सहज बन जाती है)। बहुधा यह देखने को मिलता है कि भाषा जितना अधिक सरल और सुग्राह्य् होती है उसका उतना ही अधिक प्रचार-प्रसार होता है।

मुख्य विषय

भाषा की परिभाषा:

भावों की अभिव्यक्ति के साधन अथवा माध्यम को भाषा कहते हैं,कोई भी जीव मौखिक अथवा सांकेतिक जिस भी माध्यम से अपने विचारों को प्रकट करता है उसे भाषा कहते हैं ।भाषा की परिभाषा को भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से देखा जा सकता है ।

भारतीय दृष्टि :

- पंतजलि: “वर्णों में व्यक्त वाणी को भाषा कहते है।"
- कामता प्रसाद गुरू : "भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचारों को स्पष्टतः समझ सकता है।"
- किशोरीदास बाजपेयी: "विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द समूह ही भाषा है।"
- डॉ. बाबूराम सक्सेना : "जिन ध्वनि चिन्हों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।"
- डॉ. मंगलदेव शास्त्री : "भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरवयवों से उच्चारण किए गए वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"
- डॉ. भोलानाथ तिवारी : "भाषा, उच्चारण अवयवों से उच्चरित् याद्दच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान प्रदान करते हैं।"
- पी.डी. गुणे : "शब्दों द्वारा हृदयगत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।"
- सुकुमार सेन : "अर्थवान, कण्ठ से निःसृत ध्वनि समष्टि ही भाषा है।"

पाश्चात्य दृष्टि :

पश्चिमी विचारकों और विद्वानों ने भी भाषा की परिभाषा के सम्बन्ध में अपने विचार एवं भाव अभिव्यक्त किये हैं :

1. "विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है।" तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं। प्लेटो (ग्रंथ यॉपटिक्स' में)
2. कोचे : "LANGUAGE IS ARTICULATE, LIMITED SOUND, EMPLOYED IN EXPRESSION" अर्थात् अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त स्पष्ट, सीमित तथा सुसंगठित ध्वनि को भाषा कहते हैं।

3. **कार्डिनर : "THE COMMON DEFINITION OF SPEECH IS THE USE OF ARTICULATE SOUND SYMBOLS FOR THE EXPRESSION OF THOUGHT."**
4. **ब्लॉक तथा ट्रेगर : "A LANGUAGE IS A SYSTEM OF ARBITRARY VOCAL SYMBOLS BY MEANS OF WHICH A SOCIETY GROUP CO-OPERATES."**
5. **LANGUAGE IS A SYSTEM OF ARBITRARY VOCAL SYMBOLS BY MCEANS OF WHICH MEM-BER OF A SOCIAL GROUP COOPERATE AND INTERACT" "STRUTEVENT".**

संविधान की 8वीं अनुसूची में मान्यता प्राप्त 22 भाषाएँ एवं उनका महत्त्व :

भारत की 22 संवैधानिक भाषाएं हैं इन भाषाओं के विषय में संक्षिप्त विवरण निम्नवत है:

- **असमिया:असमिया भाषा भारत के पूर्वोत्तर राज्य असम की आधिकारिक भाषा है। इसको लिखने में पूर्वी नागरी लिपि का प्रयोग किया जाता है।**

प्रमुख रचनाएं: लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ की "जोनाकी", हेमचंद्र बरुआ की "हेमकोश"

- **बांग्ला:**

बांग्ला भाषा पश्चिम बंगाल और बांग्लादेश की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: रबींद्रनाथ टैगोर की "गीतांजलि", शरतचंद्र चटर्जी की "देवदास"

- **गुजराती:**

गुजराती भाषा गुजरात राज्य की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: उमाशंकर जोशी की "विश्वशांति", श्रीधर कवि का 'रणमल्लछंद'

- **हिंदी:**

हिंदी भाषा भारत की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: जयशंकरप्रसाद की "कामायनी" प्रेमचंद की "गोदान" दिनकर की "उर्वशी"

कन्नड़:

कन्नड़ भाषा कर्नाटक राज्य की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: कवि पम्पा की "आदिनाथ पुराण" ,कवि रन्ना की "अजितनाथ पुराण"

कश्मीरी:

कश्मीरी भाषा जम्मू-कश्मीर राज्य की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: कवि लगध की रचना "वेदांग ज्योतिष", आयुर्वेद् के विद्वान् चरक की रचना "चरकसंहिता"

कोंकणी:

कोंकणी भाषा गोवा राज्य की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: **पुंडलिक नाइक** की रचना "अच्चेव", दामोदर मौज़ो की रचना *'सुनामी साइमन'*

मलयालम:

मलयालम भाषा केरल राज्य की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: कुमारन आसन की " ***वीना पूवु***

", वी॰ नारायण मेनन की रचना "शिष्यनुम् मकनुम् (शिष्य और पुत्री)",

मणिपुरी:

मणिपुरी भाषा मणिपुर राज्य की आधिकारिक भाषा है।

फाल्गुनी सिंह की रचना"मैतै" तथा जोध छी. सनसम का उपन्यास "**मथओ कनवा डि एन ए"**

मराठी:

मराठी भाषा महाराष्ट्र राज्य की आधिकारिक भाषा है।

प्रमुख रचनाएं: ज्ञानेश्वरी, तुकाराम की "अभंग"
नेपाली:
नेपाली भाषा नेपाल और भारत के कुछ हिस्सों में बोली जाती है।
प्रमुख रचनाएं: लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा की "मुनामदन", भानुभक्त आचार्य की "रामायण"(वाल्मीकीय रामायण का नेपाली अनुवाद)
ओडिया:
ओडिया भाषा ओडिशा राज्य की आधिकारिक भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: दिवाकरदास की रचना "जगन्नाथचरितामृत", फकीर मोहन सेनापति की "छमाण आठगुंठा"
पंजाबी:
पंजाबी भाषा पंजाब राज्य की आधिकारिक भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: गुरु नानक की "जपजी साहिब", वारिस शाह की "ही र"
14.संस्कृत:
संस्कृत भाषा भारत की प्राचीन भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: रामायण, महाभारत ,कालिदास की शकुन्तला
15.सिंधी:
सिंधी भाषा सिंध क्षेत्र में बोली जाती है।
प्रमुख रचनाएं: शाह जो रिसालो, सचल सरमस्त की "कामिल बेगल"
16.तमिल:
तमिल भाषा तमिलनाडु राज्य की आधिकारिक भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: तिरुक्कुरल, सिलप्पतिकारम, मणिमेकलई
17. तेलुगू:
तेलुगू भाषा आंध्र प्रदेश और तेलंगाना राज्य की आधिकारिक भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: महाभारत, रामायण, श्रीकृष्ण रेयाचार्य की "अमर चित्र कथा"
18. उर्दू:
उर्दू भाषा भारत और पाकिस्तान की आधिकारिक भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: गालिब की "दीवान-ए-गालिब", मीर तकी मीर की "मीर की शायरी"
19 बोडो:
बोडो भाषा असम राज्य की आधिकारिक भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: स्वर्णलता नार्जारी की "बोडो फॉल", हेमचंद्र ब्रह्म की "बोडो संस्कृति"
20 संथाली:
संथाली भाषा संथाल समुदाय द्वारा बोली जाती है।
प्रमुख रचनाएं: रमेश सोरेन की "संथाली लोककथा", श्याम सुंदर बेसरा की "संथाली संस्कृति"
21. मैथिली:
मैथिली भाषा बिहार और नेपाल के कुछ हिस्सों में बोली जाती है।
प्रमुख रचनाएं: विद्यापति की "कीर्तिलता", कोकिल की "मैथिली लोकगीत"
22. डोगरी:
डोगरी भाषा जम्मू-कश्मीर राज्य की आधिकारिक भाषा है।
प्रमुख रचनाएं: पद्मा सचदेव की "आठवां दिन", ओम प्रकाश शर्मा की "डोगरी लोककथा"

निजभाषा के गौरव (महत्त्व) पर भारतेंदु हरिश्चन्द्र के दोहे

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा-ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥
अँग्रेजी पढ़ि के जदपि, सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा-ज्ञान बिन, रहत हीन के हीन॥
निज भाषा उन्नति बिना, कबहुँ न ह्वैहै सोय।
लाख उपाय अनेक यों, भले करे किन कोय॥
इक भाषा इक जीव इक, मति सब घर के लोग।
तबै बनत है सबन सों, मिटत मूढ़ता सोग॥
और एक अति लाभ यह, या में प्रगट लखात।
निज भाषा में कीजिए, जो विद्या की बात॥
तेहि सुनि पावै लाभ सब, बात सुनै जो कोय।
यह गुन भाषा और मंह , कबहूं नाहीं होय॥
भारत में सब भिन्न अति, ताहीं सों उत्पात।
विविध देस मतहू विविध, भाषा विविध लखात॥
सब मिल तासों छाँड़ि कै, दूजे और उपाय।
उन्नति भाषा की करहु, अहो भ्रातगन आय।।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

अपनी भाषा(मातृभाषा) के गौरव(महत्त्व) पर गांधीजी के विचार :

महान स्वतंत्रता सेनानी महात्मा गांधीजी ने अपनी पुस्तक “हिन्द स्वराज” में भारतीय भाषाओं के महत्त्व के विषय में लिखा है और उन्होंने जोर दिया है कि व्यक्ति को शिक्षा उसकी भाषा में ,उसकी मातृभाषा में ही देनी चाहिए :

“हम सभ्यता के रोग में ऐसे फंस गये हैं कि अंग्रेज़ी शिक्षा बिलकुल लिये बिना अपना काम चला सकें ऐसा समय अब नहीं रहा। जिसने वह शिक्षा पाई है, वह उसका अच्छा उपयोग करे। अंग्रेज़ों के साथ के व्यवहार में, ऐसे हिंदुस्तानियों के साथ के व्यवहार में जिनकी भाषा हम समझ न सक़ते हों और अंग्रेज खुद अपनी सभ्यता से कैसे परेशान हो गये हैं यह समझने के लिए अंग्रेजी का उपयोग किया जाय। जो लोग अंग्रेजी पढ़े हुए हैं उनकी संतानों को पहले तो नीति सिखानी चाहिए, उनकी मातृभाषा । मादरी जबान(मातृभाषा) सिखानी चाहिए और हिंदुस्तान की एक दूसरी भाषा सिखानी चाहिए। बालक जब पुख्ता (पक्की) उम्र के हो जायें तब भले हीं वे अंग्रेजी शिक्षा पायें, और वह भी उसे मिटाने के इरादे से, न कि उसके जरिये पैसे कमाने के इरादे से। ऐसा करते हुए भी हमें यह सोचना होगा कि अंग्रेजी में क्या सीखना चाहिए और क्या नहीं सीखना चाहिए। कौन से शास्त्र पढ़ने चाहिए, यह भी हमें सोचना होगा। थोड़ा विचार करने से हीं हमारी समझ में आ जाएगा कि अगर अंग्रेजी डिग्री लेना हम बन्द कर दें, तो अंग्रेज़ हाकिम चौकेंगे।“

“सबसे पहले तो धर्म की शिक्षा या नीति की शिक्षा दी जानी चाहिए। हर एक पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी को अपनी भाषा का, हिंदू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का और सबको हिंदी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिंदुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। उत्तरी और पश्चिमी हिंदुस्तान के लोगों को तामिल सीखनी चाहिए। सारे हिंदुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए, वह तो हिंदी हीं होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानों के संबंध ठीक रहें, इसलिए बहुत से हिंदुस्तानियों का इन दोनों लिपियों को जान लेना जरूरी है”

ग्राही के अनुरूप भाषा :

प्रायः यह देखा जाता है कि सामने वाला जिस भाषा में भाव को आसानी से ग्रहण कर लेता है व्यक्ति उसी भाषा का व्यवहार करता है,सांकेतिक भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण कवि बिहारी द्वारा रचित इस दोहे में देखने को मिलता है :

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात । भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सों बात ।।

अर्थात नायक और नायिका आँखों की भाषा(संकेतों के द्वारा) से ही अपने सम्पूर्ण भाव एक-दूसरे को प्रकट कर देते हैं,संकेतों(इशारों-इशारों)में ही सब कुछ समझा देते हैं यहाँ पर हम देखते हैं कि ग्रहण करने वाले के अनुसार भाषा का प्रयोग यहाँ किया गया है । भारतीय भाषाओं के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए पाश्चात्य विद्वान् डॉ. फादर कामिल बुल्के ने लिखा है : "संस्कृत माँ, हिन्दी गृहिणी और अंग्रेजी नौकरानी है।"

भारतीय भाषा संस्थान द्वारा भाषा के संरक्षण, संवर्धन हेतु प्रयास :

प्रारंभ में भारतीय भाषा संस्थान द्वारा वर्ष 1970 में भुवनेश्वर, मैसूर, पटियाला और पुणे में कुल 4 क्षेत्रीय भाषा केंद्रों की स्थापना की गई इन केन्द्रों का लक्ष्य त्रिभाषा सूत्र को क्रियान्वित करना और इसके साथ ही राष्ट्रीय अखंडता और सामाजिक समरसता को बढ़ावा देना था। इन केंद्रों के माध्यम से द्वितीय भाषा शिक्षण की शुरुआत की गई, इसके बाद तीन अन्य केंद्रों की स्थापना हुई जिसमें से सोलन और लखनऊ के केंद्र को उर्दू भाषा के लिए स्थापित किया गया और गुवाहटी के केंद्र को उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की भाषाओं के लिए स्थापित किया गया था।

दक्षिण क्षेत्रीय भाषा केंद्र, मैसूरु :

कन्नड़,मलयालम,तमिल,तेलुगु भाषाओं के संरक्षण संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार के लिए कार्य करता है।

पूर्वी क्षेत्रीय भाषा केंद्र, भुवनेश्वर :

बांग्ला,मैथिली,ओडिया,संथाली इन चार भाषाओं के लिए यह केंद्र कार्य करता है ।

उत्तर क्षेत्रीय भाषा केंद्र, पटियाला :

डोगरी,कश्मीरी,पंजाबी, उर्दू इन भाषाओं के विकास एवं संरक्षण हेतु यह केंद्र कार्य करता है ।

पश्चिम क्षेत्रीय भाषा केंद्र, पुणे :

गुजराती,कोंकडी,मराठी एवं सिंधी इन भाषाओं के संवर्धन एवं प्रचार हेतु यह केंद्र कार्य करता है।

उर्दू शिक्षण एवं अनुसंधान केंद्र, सोलन :

उर्दू भाषा के संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार हेतु कार्य करता है ।

उर्दू शिक्षण एवं अनुसंधान केंद्र, लखनऊ :

उर्दू भाषा के विकास एवं संरक्षण हेतु कार्य करता है ।

उत्तर-पूर्वी क्षेत्रीय भाषा केंद्र, गुवाहाटी :

यह केन्द्र असमिया,बोडो,मणिपुरी,नेपाली भाषाओं के संरक्षण ,संवर्धन एवं प्रचार -प्रसार हेतु कार्य करता है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. भगवान सिंह -'आर्य द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता ' राजकमल प्रकाशन
2. वाक्यपदीयम : भर्तहरी
3. हिन्द स्वराज,अनुवादक : अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी
4. हिन्दी भाषा एवं भाषाविज्ञान: महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
5. भारतीय साहित्य "लक्ष्मीकांत पाण्डेय"

पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य

डॉ. कमल कुमार पटेल*

पर्यावरण शब्द व्यापक अर्थों वाला है। इसका प्रायः समस्त पारिस्थितिकी अथवा परिवृत्ति परिवेश, आस–पास अथवा पास–पड़ोस, जीवन–यापन एवं कार्यप्रणाली की दशायें, वनस्पतियों एवं जीव–जन्तुओं के विकास की दशायें आदि अर्थों में प्रयोग किया जाता है। वास्तव में Environment शब्द फ्रेंच भाषा के Environer शब्द से बना है जिसका तात्पर्य समस्त पारिस्थितिकी होता है जिसमें सभी स्थितियाँ, परिस्थितियां, दशायें आदि जो वनस्पतियों एवं जीव–जन्तुओं को प्रभावित करती हैं सम्मिलित है। इसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानव से संबंध है। बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमता, कार्य प्रणाली, व्यवहार, आचार–विचार, वेशभूषा, धर्म आदि पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।

पृथ्वी के उद्भव के बहुत बाद मे पर्यावरण का निर्माण हुआ। इसके निर्माण की प्रक्रिया नितांत मन्द गति से अनवरत सक्रिय रही। अनेक भौतिक एवं अभौतिक तत्वों का निर्माण तथा इनके मध्य उत्पन्न संबंध से पर्यावरण धीरे–धीरे मूर्त रूप धारण करता गया। वायुमंडल का निर्माण एवं इसकी घटनायें पर्यावरण के निर्माण एवं विकास में निरंतर सहयोग देती रहीं। कलांतर में भू–तल पर एक भौतिक पर्यावरण कर निर्माण हो गया। इस पर्यावरण के मध्य मानव जैसा एक विशिष्ट प्राणी उत्पन्न हुआ। यही एक ऐसा प्राणी है जो चिंतन, कृतित्व एवं व्यक्तित्व से परिपूर्ण है। वह अपने तथा समस्त जैविक–अजैविक संघटकों के विषय में सोच सकता है। पर्यावरण के उपादानों का उपयोग एवं उनकी सुरक्षा कर सकता है। पर्यावरण मानव को बहुत कुछ दिया है जिससे उत्कृष्ट मानव–संस्कृति उद्भूत हुई है। परंतु मानव स्वार्थ से अन्धा होकर पर्यावरण के विनाश में संलग्न है। पृथवी का उद्भव उसका शीतलन, वायुमण्डल का निर्माण, वनस्पति एवं जीवों की उत्पत्ति आदि कालान्तर की सक्रिय प्रक्रिया से पर्यावरण का निर्माण हुआ। प्रारंभ में पर्यावरण नितांत निर्बल था। धीरे–धीरे सघन एवं मौलिक होता गया। अनेक प्राकृतिक नियम पर्यावरण में संचालित होने लगे। सभी नियम परस्पर सम्बद्ध होकर पर्यावरण को मौलिक स्वरूप प्रदान किया।

पर्यावरण के प्रकार :मानव उद्भव के पूर्व भू–तल पर प्राकृतिक पर्यावरण की प्रधानता थी, जिसमें अन्यान्य जैविक तत्व भी विद्यमान थे। वर्तमान से लगभग 60 लाख वर्ष पूर्व मानव का प्रथम पूर्वज धरातल पर अवतरित हो चुका था जिसमें मानवीय लक्षण विकसित होना प्रारंभ हो गया था। लगभग 10 लाख वर्ष पूर्व उसमें क्रियाशीलता एवं चिन्तनशीलता का विकास प्रारंभ हो गया था। प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति में चिंतनशील एवं क्रियाशील होने के कारण मानव ने पर्यावरण में वर्तमान तक अनेक परिवर्तन कर लिया है। परिवर्तन क्रिया से संस्कृति विकास तथा संस्कृति विकास से परिवर्तन क्रिया में सक्रियता निरंतर संचालित रही। भौतिक पर्यावरण में विषमता परिलक्षित होने लगी जिससे पर्यावरण का वर्गीकरण करना नितांत सरल हो गया है। फलस्वरूप पर्यावरण का निम्नांकित वर्गीकरण किया जा सकता है –

(1) भौगोलिक पर्यावरण (2) संक्रियात्मक पर्यावरण (3) बोधात्मक पर्यावरण (4) व्यवहारगत पर्यावरण ।

भौगोलिक पर्यावरण : मानव अपनी क्रियाओं द्वारा अपने चारों तरफ आवष्ठित पर्यावरण करके जिस नवीन पर्यावरण का निर्माण करता है उसे भौगोलिक पर्यावरण की संज्ञा दी जाती हैं । इस पर्यावरण का मापन मानव क्रियाओ की मात्रा तथा उसके पर्यावरण पर प्रभाव की दर द्वारा किया जाता है। अर्थात जो समाज सांस्कृतिक दृष्टिकोण से जितना अल्प विकसित होता है उसकी क्रियाओं की मात्रा उतनी ही कम होती है तथा भौगोलिक पर्यावरण उतना ही सीमित होता है। अल्प विकसित संस्कृति के कारण आदिवासी एक विकसित भौगोलिक पर्यावरण के विषय में अज्ञात रहते हैं। उन्हें संसार के अन्य भागों के विषय में कोई ज्ञान नहीं होता है। वर्तमान समय में विश्व के बहुत से भू–भाग पर मानव अपनी आदिम अवस्था में निवास कर रहा

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर–समाजशास्त्र, श्री हरिदास पी0जी0 कालेज, लहंगपुर, जौनपुर।

है। फलस्वरूप उसे एक विकसित भौगोलिक पर्यावरण के विषय में ज्ञान नहीं है। विकसित संस्कृति वाले मानवों का प्रमुख अंग भौगोलिक पर्यावरण है।

संक्रियात्मक पर्यावरण : मानव समूह के पर्यावरण में क्रियाशील रहने से थोड़ा–बहुत परिवर्तन होता है जिससे एक नवीन पर्यावरण का निर्माण होता है जिसे संक्रियात्मक पर्यावरण की संज्ञा दी जाती हैं यह पर्यावरण पूर्णरूपेण भौगोलिक पर्यावरण नहीं बन पाता है। यदि मानव क्रियायें सक्रिय रहती हैं तो यह पर्यावरण भौगोलिक पर्यावरण की ओर अग्रसर रहता है। इस पर्यावरण में यदि 60 प्रतिशत प्राकृतिक पर्यावरण हेता है तो 40 प्रतिशत भौगोलिक पर्यावरण होता है। 60 प्रतिशत प्राकृतिक पर्यावरण की प्रधानता को कम करने के लिए मानव निरंतर क्रियाशील रहता है। संक्रियात्मक पर्यावरण पर्यावरण भिन्न–भिन्न होता है क्योंकि प्रत्येक मानव समूह की क्रियाओं की मात्रा उसके सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, प्रजातीय आदि गुणों के कारण भिन्न–भिन्न होती है

बोधात्मक पर्यावरण : यह पर्यावरण संक्रियात्मक पर्यावरण का अंग है। इसका मापन सभव नहीं हैं। इस पर्यावरण का ज्ञान संवेदनाओ के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक मानव के अन्दर भिन्न–भिन्न संवेदना बन सकती है। इस लिए इसका मापन संभव नहीं है। इस पर्यावरण की बोधगम्यता अनुभव, शिक्षा, विश्लेषण, तर्क आदि के द्वारा संवेदनात्मक एवं प्रतीकात्मक ज्ञान द्वारा की जाती है। इसके विपरीत भौगोलिक पर्यावरण में ऐसे तत्व विद्यमान रहे हैं जिनका मापन किया जा सकता है।

व्यावहारात्मक पर्यावरण : नवीन आविष्कार अनसंधान तथा अन्यान्य विकास के लिए जागरूक मानव से मुक्त पर्यावरण व्यवहारात्मक पर्यावरण कहलाता है। वर्तमान समय में संसार का अधिकांश पर्यावरण इसी प्रकार का पर्यावरण है।

मानव इन्हीं चारों–भौगोलिक, सांक्रियात्मक, बोधात्मक तथा व्यवहारात्मक पर्यावरण में निवास करता है। वह अपनी संस्कृति के विकास के लिए विभिन्न प्रकार की प्रविधियों का प्रयोग का पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाता है।

पर्यावरण और मानव : पर्यावरण मानव तथा अन्य जीव–जन्तुओं का जन्मदाता हैं इनके मध्य का संबंध अतीत से ही समस्या प्रधान रहा है। पर्यावरण मानव को तथा मानव पर्यावरण को प्रभावित करता हैं मानव अपनी विशिष्ट क्रियाओं द्वारा नूतन पर्यावरण का निर्माण करता हैं। मानव द्वारा सृजित पर्यावरण उसकी संस्कृति की उत्कृष्टता का द्योतक होता है। पर्यावरण के प्रत्येक घटक संतुलित अवस्था में होते है। इसमें मानव का हस्तक्षेप असंतुलन की स्थिति उत्पन्न कर देता है। पर्यावरण की मौलिकता समाप्त हो जाती है तथा प्रदूषण उत्पन्न होता है। मानव एक क्रियाशील प्राणी है जो पर्यावरण में नियंत्रण, शोषण एवं परिमार्जन करता है। अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु पर्यावरण मे निरंतर क्रियाशील रहता है तथा उसे प्रभावित करता है और स्वयं प्रभावित होता है। वर्तमान समय में केवल मानव ही नहीं वरन् पशु–पक्षी, जीव–जन्तु एवं वनस्पतियां भी प्रदूषण द्वारा प्रभावित है। खाद्य पदार्थ, जल, मृदा, वायु आदि में शुद्धता का अभाव है। जनसंख्या की विस्फोटक स्थिति, नगरीकरण, औद्योगीकरण, कृषि का वैज्ञानिकरण आदि के कारण पर्यावरण मे अनेक प्रदूषण उत्पन्न हो गए हैं।

मानव स्वास्थ्य पोषण, जैविक रासायनिक या मनोवैज्ञानिक जैसे कई कारको से प्रभावित होता है। मानव स्वास्थ्य पर्यावरण के बीच बहुत गहरा संबंध है। यह बिल्कुल सच है कि पर्यावरण का उसमें रहने वाल पर सीधा प्रभाव पड़ता है और कई बीमारियां मनुष्य के अपने पर्यावरण के पर्यावरण स्वरूप मिलता है।

पर्यावरण और मानव के बीच संबंध :

स्वास्थ्य एक जीवित प्राणी की कार्यात्मक या चयापचय दक्षता का स्तर है। मनुष्यो में, यह किसी व्यक्ति के मन, शरीर और आत्मा की सामान्य स्थिति है, जिसका अर्थ आमतौर पर बीमारी, चोट या दर्द से मुक्त होना है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) ने 1946 में अपने व्यापक अर्थो में स्वास्थ्य को "पूर्ण शरीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याण की स्थिति के रूप में परिभाषित किया है, न कि केवल बीमारी या दुर्बलता की अनुपस्थिति।

रोग एक असामान्य स्थिति है जो किसी जीव के शरीर को प्रभावित करती है। यह बाहरी कारकों के कारण हो सकता है, जैसे कि संक्रामक रोग, या यह आंतरिक विकारों के कारण हो सकता है, जैसे कि ऑटोइम्यून रोग। मनुष्यों में, ''बीमारी'' अक्सर किसी भी स्थिति को संदर्भित करने के लिए अधिक व्यापक रूप से उपयोग की जाती है जो पीड़ित व्यक्ति को दर्द, शिथिलता, संकट, सामाजिक समस्याएं, या मृत्यु का कारण बनती है, या व्यक्ति के संपर्क में आने वालों के लिए इसी तरह की समस्याओं का कारण बनती है।

मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारण :

जो मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करते है और रोग का कारण बनते है, उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

शरीर के अंगों की खराबी, हार्मोनल असंतुलन, प्रतिरक्षा प्रणाली की खराबी और आनुवंशिक विकार जैसे कारक, जो मानव शरीर के भीतर मौजूद हैं, आंतरिक कारक कहलाते है। आंतरिक कारकों के कारण होने वाले रोग कौ जैविक रोग या चयापचय रोग कहा जाता है।

बाहरी कारकों के कारण होने वाली बीमारियों के कुछ उदाहरण है :

दिल का दौरा गुर्दे की विफलता, मोतियाबिंद, मधुमेह आदि। आंतरिक कारकों के कारण होने वाले रोग को उचित चिकित्सा उपचार से ठीक किया जा सकता है। कुपोषण, रोग पैदा करने वाले सूक्ष्मजीव, पर्यावरण प्रदूषक तंबाकू का उपयोग, शराब और नशीले पदार्थों जैसे कारक, जो मानव शरीर के बाहर मौजूद है, बाहरी कारक कहलाते हैं।

बाह्म कारकों के कारण होने वाले रोग के कुछ उदाहरण क्वाशियोरकोर, गोइटर, मलेरिया, हैजा, टिटेनस आदि है। बाहरी कारको के कारण होने वाले रोगों को स्वस्थ भोजन प्रदान करके, स्वच्छ वातावरण प्रदान करके, अच्छी आदतों को प्रोत्साहित करने वाले सामाजिक उपचार द्वारा ठीक किया जा सकता है।

त्वचा पर लगाए जाने वाले कई रसायन, साँस के द्वारा या मुँह से लिए जाने पर भी कैंसर का कारण माना जाता है। ये रसायन, जो कैंसर का कारण बन सकते हैं, कार्सिनोजेनिक के रूप में जाने जाते है। खाद्य पदार्थो में कार्सिनोजेनिक एजेट प्राकृतिक पदार्थ हो सकते हैं या वे रसायन (खाद्य योजक) हो सकते है जिन्हे जानबूझकर भोजन में स्वाद देने वाले एजेट के रूप में, रंग एजेट के रूप में, एक संरक्षक के रूप में स्वीटनर के रूप में जोड़ा जाता है। कैंसर के विकास या टयूमर का इलाज केवल प्रारंभिक अवस्था में ही किया जा सकता है। उन्नत चरणों में कैंसर की वृद्धि अक्सर मृत्यु का कारण बनती है।

तीन प्रकार के स्वास्थ्य खतरे हैं :

1. **शरीरिक खतरे** : रेडियोधर्मी और यूीव विकिरण, ग्लोबल वार्मिंग, क्लोरोफ्लोरोकार्बन, शोर आदि।
2. **रामसायनिक खतरे** : जीवाश्म ईंधन, औद्योगिक बहिःस्राव, कीटनाशक, भारी धातुओं का दहन।
3. **जैविक खतरे** : बैक्टीरिया, वायरस, परजीवी।

संक्रामक जीव :

संक्रामक रोग, जिसे संक्रामक रोग या संचारी रोग भी कहते है, में एक व्यक्तिगत मेजबान जीव में रोगजनक जैविक एजेंटों के संक्रामक, उपस्थिति और वृद्धि के परिणामस्वरूप नैदानिक रूप से स्पष्ट बीमारी शामिल है। संक्रामक रोगजनकों में कुछ वायरस, बैक्टीरिया, कवक प्रोटोजोआ, बहुकोशिकीय परजीवी और असामान्य प्रोटीन शामिल हैं जिन्हें प्रियन कहा जाता है।

ये रोगजनक रोग महामारी का कारण हैं इस अर्थ में कि रोगजनक के बिना कोई संक्रामकम महामारी नहीं होती है।। रोगजनक का संचारण विभिन्न तरीकों से हो सकता है। जिसमें शारीरिक संपर्क, दूषित भोजन, शरीर के तरल पदार्थ, वस्तुएं, हवा में साँस लेना या वेक्टर जीवों के माध्यम से शामिल है। संक्रामक जीव श्वसन रोग (निमानिया, तपेदिक, इन्फ्लूएंजा आदि) और जठरांत्र संबंधी रोग (दस्त, पेचिशं हैजा आदि) भी पैदा होता हैं।

कुपोषण :

कुपोषण शब्द का तात्पर्य आहार पोषक तत्वों के अस्वास्थ्यकर सेवन से है। कुपोषण, अपर्याप्त या अधिक मात्रा में भोजन के सेवन , आहार पोषक तत्वों के असंतुलन या आपके द्वारा खाए जाने वाले भोजन

पचाने, अवशोषित करने या उपयोग करने में असमर्थता से उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि आपके शरीर में सभी अंग प्रणालियों को बिल्डिंग ब्लॉक्स और ऊर्जा भोजन प्रदान करने की आवश्यकता होती है, कुपोषण आपके स्वास्थ्य को उन तरीकों से प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर सकता है जो हल्के से लेकर संभावित जीवन के लिए खतरा है। अपने अच्छे स्वास्थ्य को प्राप्त करने और बनाए रखने के लिए एक पौष्टिक, संतुलित आहार खाना सबसे महत्पूर्ण कारको में से एक है।

कोलेस्ट्रॉल और संर्तृवत वसा के अधिक सेवन से आपकी धमनियो में एथेरोस्क्लेरोसिस, या फैटी ब्लॉकेज विकसित होने का खतरा बढ़ जाता है। यदि आपके आहार में पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन, जिंक या विटामिन सी, कैल्शियम और विटामिन डी की कमी से ऑस्टियोपोरोसिस और हड्डियों के फ्रैक्चर का खतरा बढ़ जाता है, तो संक्रमण का खतरा बढ़ सकता है। शैशवावस्था और प्रारंभिक बचपन के दौरान कुपोषण मधुमेह, अस्थमा, एलर्जी और हृदय रोग सहित पुरानी बीमारियों के विकास के आपके जोखिम को बढ़ा सकता है।

खाद्य अपमिश्रण :

भोजन में मिलावट को भोजन में या उसमें से किसी भी पदार्थ का योग या घटाव के रूप में परिभाषित किया जाता है, जिससे मूल खाद्य पदार्थ की प्राकृतिक सरचना और गुणवत्ता प्रभावित होती है। उपभोक्ता के लिए मिलावट की सीमा का पता लगाना मुश्किल है। खाद्य पदार्थों में मिलावट या तो जानबूझकर, अनजाने में या प्राकृतिक हो सकती है।

भोजन मे मिलावट मनुष्य में कई स्वास्थ्य समस्याओं का कारण बनता है। कुछ स्वास्थ्य खतरो में पेट मे दर्द, शरीर में दर्द, एनीमिया, गर्भपात, पक्षाघात, और टयूमर की घटनाओं मे वृद्धि, महत्वपूर्ण अंगों में रोग संबंधी घाव, त्वचा और आंखों की असामान्यताएं शामिल हैं।। इसलिए जनता के स्वास्थ्य महत्व में इसके प्रभाव के कारण खाद्य अपमिश्रण को बहुत महत्व दिया जाना चाहिए।

एपिडेमिक ड्रॉप्सी, Argemone mexicana (मैक्सिकन कांटेदार खसखस) के नशे के कारण हाथ–पांव में सूजन का एक रूप है। एपिडेमिक ड्रॉप्सी एक नैदानिक स्थिति है जो आर्गेमोन मेक्सिकाना बीज तेल के साथ मिलावटी खाद्य तेलों के उपयोग के परिणामस्वरूप होती है। महामारी ड्रॉप्सी उन जगहों पर एक महामारी के रूप में होती है जहां खाना पकाने के माध्यम के रूप में सरसो के तेल (ब्रैसिका जकिया के बीजों से जिसे आमतौर पर भारतीय सरसो के रूप में जाना जाता है) का उपयोग आम है।

मिलावटी तेल को हटाना और कंजस्टिव कार्डिएक फेल्योर और श्रवसन संबधी लक्षणो के रोगसूचक उपचार के साथ–साथ एंटीऑक्सिडेट और मल्टीविटामिन का प्रशासन उपचार का मुख्य आधार बन हुआ है। पीली सरसों की चयनात्मक खेती, भारतीय खाद्य अपमिश्रण अधिनियम का कड़ाई से प्रवर्तन और बेईमान व्यापारियो को अनुकरणीय दंड मुख्य निवारक उपाय हैं।

पर्यावरण प्रबंधन हेतु आवश्यक सुझाव :–

पर्यावरणीय शिक्षा व प्रशिक्षण :

पर्यावरणीय शिक्षा से पर्यावरण बोध, पर्यावरणीय समस्याओं के प्रति जागरूकता पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता आदिजागृत होती है। पर्यावरण बोध से मानव पर्यावरण के संश्लिष्ट संबंधों को गहराई से समझने में सहायता मिलती है। इससे मानव के विविध क्रियाकलापों और आचारो की व्याख्या व सबमझ को मालूम किया जा सकता है। पर्यावरण के लक्षणों के प्रति मानव की जागरूकता उसके पर्यावरण के अनुभव के स्तर से संबंधित होता है। पर्यावरण बोध से पर्यावरण अवनयन व प्रदूषण को कम करने में सहायता मिलती है। पर्यावरण बोध से जनचेतना जागृत होती है। जिसमें संगोष्ठी, प्रदर्शनी, दृश्य–श्रव्य माध्यम आदि होते है। भारत के ग्रामीण निवासी बरगद, पीपल, तुलसी, आम, आदि के प्रति अधिक संवेदनशील है। जापानी बच्चे वृक्षों की टहनियों को तोड़ने के स्थान पर उनके संरक्षण पर बल देते है। पर्यावरण प्रबंधन में पर्यावरण बोध की खास भूमिका होती है।

पर्यावरण शिक्षा का उद्देश्य विश्व जागरूक विकसित करना है जो संपूर्ण पर्यावरण व तत्संबंधित समस्याओं के प्रति सतर्क हो और वर्तमान समस्याओं के हल तथा नई दिक्कत पैदा होने को रोकने के प्रति व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से कार्य करने हेतु वचनबद्ध हो। इस शोध के निम्नांकित उद्देश्य रहा हैं–

जागरूकता– संपूर्ण पर्यावरण और तत्संबधित समस्याओ के प्रति व्यक्तियों व सामाजिक समूहों में संवेदनशीलता व जागरूकता उत्पन्न करना।

ज्ञान– व्यक्तियों एवं सामजिक समूहो में पर्यावरण और उसकी समस्याओं के प्रति मौलिक ज्ञानो एवं अलग अनुभवों को पैदा करना।

कुशलता– पर्यावरणीय समस्याओं की पहचान व उनके समाधान के लिए कुशलता उत्पन्न करना।

सहभागिता– पर्यावरण समस्याओं के प्रस्ताव के अनुसार सभी स्तरो ंपर सक्रिय सहभागिता के लिए अवसर प्रदान करना।

मूल्यांकन योग्यता– परिस्थितिकी, आर्थिक, सामाजिक, सौन्दर्य बोधी और शैक्षणिक कारकों के संदर्भ में पर्यावरण उपायो और शिक्षा कार्यक्रमों के मूल्यांकन की योग्यता उत्पन्न करना।

अभिवृद्धि– सामाजिक व व्यक्तियों समूहों मे पर्यावरण के प्रति अनुभूतियों और मूल्यों को स्थापित करना तथा उनको पर्यावरण सुधार व संरक्षण में सक्रिय भागीदारी के लिए प्रेरित करना।

मार्ग दर्शक सिद्धांत :

- समग्र पर्यावरण जैसे कृत्रिम, प्राकृतिक, समाजिक, प्राविथिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, नैतिक, ऐतिहासिक, सौन्दर्य बोधक इत्यादि का विचार करना।
- पर्यावरण समस्याओं की जटिलता पर बल देना और समस्या समाधान बुद्धि और विवेचनात्मक चिन्तन विकसित करने पर जोर देना।
- औपचारिक तथा अनौपचारिक सहित स्कूल पूर्व से सभी उच्च स्तरों तक निरंतर जीवन प्रक्रिया को विचारना।
- पर्यावरण समस्याओं के वास्तविक कारणों व लक्षणों की जानकारी जिज्ञासुओं को देना।
- पर्यावरण समस्याओं का निराकरण तथा रोकथाम में सक्रिय सहभागिता पर बल देना।
- पर्यावरणीय प्रमुख विचार वस्तुओं का स्थानीय,राष्ट्रीय,प्रादेशिक और अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से परीक्षण करना।
- वर्तमान व संभाव्य पर्यावरण दशाओं पर रोशनी डालना।
- पर्यावरण के बारे में विभिन्न अध्ययनों और शिक्षण के विभिन्न उपागमों का उपयोग करना।
- पर्यावरण समस्याओं का निराकरण रोकथाम में स्थानीय सहयोग से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता तथा मूल्यो की अभिवृद्धि करना।

निष्कर्ष :

उपरोक्त सुझावों को ध्यान में ंरखकर पर्यावरण को नियंत्रित किया जा सकता है। पर्यावरण भारत की प्रमुख समस्या बनती जा रही है। इसक समाधान के लिए सरकार तत्पर है किन्त जब तक आम मानस इस समस्या से निपटने के लिए तत्पर नहीं होगा तब तक इसका समाधान असंभव है। पर्यावरण मानव मात्र के लिए ही नही बल्कि अन्य पशु–पक्षियों एवं पादपों के लिए भी घातक है।

मानव स्वास्थ्य पोषण, जैविक,रासायनिक या मनोवैज्ञानिक जैसे कई कारकों से प्रभावित होता है। यह बिल्कुल सच है कि पर्यावरण का उसमें रहने वालों पर सीधा प्रभाव पड़ता है और कई बीमारियां मनुष्य के अपने पर्यावरण के साथ कुसमायोजन का परिणाम हैं। इस समस्या के समाधान के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

ंसदर्भ :

1. Dr. Dilip Kumar Nayak : International Education & Research Journal [IERJ] Research PaperE-ISSN No : 2454-9916 | Volume : 6 | Issue : 9 | Sep 2020 P.N. 36-37
2. कौशिक, एस.डी. (1985) : 'मानव भूगोल', रस्तोगी प्रकाशन, मेरठ, पृ0 52–53.
3. कौशिक, एस.डी. एवं शर्मा ए.के. (1987): संसाधन भूगोल, रस्तोगी एण्ड कंपनी, मेरठ, पृ0 81–83.
4. करण, महेश्वर प्रसाद (1970) : संसाधन भूगोल, किताब घर, कानपुर, पृ0 32–34.
5. गिलपिन, अलान (1978) : डिक्सनरी ऑफ इनवायरेनमेंटल टर्म्स, लंदन, पृ0 152–153.
6. जोशी, ओ. पी. (1992) : घरेलू प्रदूषण, विज्ञान पत्रिका, नई दिल्ली, पृ0 12–13.
7. ठाकुर, पुष्पा (2004):शोध लेख 'औद्योगीकरण और पर्यावरण प्रदूषण' वीरांगना पत्रिका, नई दिल्ली, पृ0 17–18.40

सुभाष चंद्र बोस के आर्थिक विचार और उसकी प्रासंगिकता

डॉ. चंदा कुमारी*

शोध सार

सुभाष चंद्र बोस को हम महान व्यक्त्वि, बलिदानी, निडर, देशवासियों में अत्यंत लोकप्रिय इत्यादि के रूप में याद करते हैं। वास्तव में सुभाष चंद्र बोस का व्यक्त्वि अत्यंत निराला है। उन्होंने राजनीति, समाज, धर्म इत्यादि के संदर्भ में अपने विचार दिये हैं। इसी संदर्भ में उनका दिया हुआ आर्थिक विचार महत्त्वपूर्ण और प्रासांगिक है। सुभाष चंद्र बोस आर्थिक विचार पर दृष्टिपात करे तो वह व्यवहारिक, समय की आवश्यकताओं के अनुरूप, भारतीय परिस्थितियों में पूरी तरह सुसंगत तथा गहराई से विचारशील थे।

भूमिका

सुभाष चंद्र बोस की आर्थिक विचारधारा के केन्द्र में समाजवाद प्रतीत होता है, जिसका उद्देश्य देश के आम नागरिकों विशेष रूप से श्रमिकों, कृषकों और वंचित वर्गों के जीवन स्तर को ऊपर उठाना और उनके आर्थिक हितों की रक्षा करना था। वे मानते थे कि राष्ट्र की सच्ची प्रगति तभी संभव है जब समाज के प्रत्येक वर्ग को समान अवसर और संसाधन उपलब्ध हों। उनका आर्थिक दृष्टिकोण पूरी तरह से देश की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ था। उनके विचारों की जड़ें न केवल सामाजिक न्याय में थीं, बल्कि यह भी सुनिश्चित करने में थीं कि भारत एक समृद्ध, स्वावलंबी और शक्तिशाली राष्ट्र बने। वे आर्थिक सशक्तिकरण को राष्ट्र निर्माण की नींव मानते थे और चाहते थे कि प्रत्येक नागरिक को आर्थिक रूप से समर्थ बनाया जाए, ताकि वह देश की प्रगति में सक्रिय रूप से योगदान दे सके। सुभाष चंद्र बोस का आर्थिक विचार में आजाद भारत के लिए एक सुव्यवस्थित और समावेशी विकास की परिकल्पना देखा, उसका प्रमुख आधार है –

समाजवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, विशेष रूप से यूरोप में, समाजवादी विचारधारा विभिन्न रूपों में सामने आई। इन विचारों ने वहाँ के श्रमिक वर्ग को संगठित किया और उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के लिए प्रेरित किया। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक समाजवाद एक मजबूत आंदोलन बन चुका था, जिसने पश्चिमी देशों में व्यापक समर्थन प्राप्त किया। उसी समय भारत अंग्रेजी उपनिवेशवाद के अधीन था। भारत के प्राकृतिक और आर्थिक संसाधनों का उपयोग ब्रिटिश साम्राज्य की समृद्धि के लिए किया जा रहा था, जबकि देश की आम जनता विशेषकर किसान, मजदूर और गरीब वर्ग अत्यधिक गरीबी, अभाव और अपमानपूर्ण जीवन जीने को मजबूर थी। भारतीय समाज को कमजोर बनाए रखने के लिए अंग्रेजों ने कई नीतियाँ अपनाईं। उन्होंने समाज के धनी और प्रभावशाली वर्गों को अपने पक्ष में कर उन्हें विशेष अधिकार दिए। जमींदारों और साहूकारों को किसानों का शोषण करने की खुली छूट मिली, वहीं व्यापारियों और उद्योगपतियों को मजदूरों के श्रम का अनुचित लाभ उठाने का अवसर दिया गया। इसके साथ ही 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर एक समुदाय को दूसरे के खिलाफ खड़ा किया गया, जिससे सामाजिक एकता कमजोर होती गई। ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था कि कुछ जागरूक, विचारशील और देशभक्त भारतीय समाजवादी विचारधारा की ओर आकर्षित हों। विशेष रूप से वे लोग, जिन्होंने पश्चिमी देशों में शिक्षा प्राप्त की थी या वहाँ के विचारों से प्रभावित थे, समाजवाद को भारत को सामाजिक और आर्थिक शोषण से मुक्त करने का एक प्रभावी साधन मानने लगे। इन विचारों ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अनेक युवाओं और नेताओं को प्रेरित किया और एक न्यायपूर्ण तथा समानता–आधारित समाज का सपना दिखाया। सुभाष चंद्र समाजवादी विचारों से प्रभावित थे। उनके जीवन और व्यवहार में भी समाजवाद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। समाजवाद इस सिद्धांत पर आधारित है कि हर व्यक्ति को समान अधिकार और अवसर मिलने चाहिए तथा समाज की उन्नति में सभी की बराबर भागीदारी होनी चाहिए। सुभाष चंद्र बोस केवल विचारों के स्तर पर ही समाजवादी नहीं थे, बल्कि उनका जीवन सादा था और वे नगर निगम के अन्य

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीतिक विज्ञान विभाग, रामचंद्र चंद्रवंशी विश्वविद्यालय, पलामू, झारखंड.

कर्मचारियों के साथ समानता और आत्मीयता से व्यवहार करते थे। इसी कारण वे अपने सहकर्मियों के बीच अत्यंत लोकप्रिय थे और समाजवाद के एक जीवंत उदाहरण के रूप में देखे जाते थे। वे 'म्युनिसिपल सोशलिज्म' की अवधारणा से गहराई से प्रभावित थे, जिसे उन्होंने वियना में प्रत्यक्ष रूप से कार्यरत देखा था। वहाँ उन्होंने अनुभव किया कि किस प्रकार नगर–स्तरीय प्रशासन के माध्यम से लोगों को आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ और अन्य बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा रही थीं। इस व्यवस्था की सफलता ने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि स्थानीय प्रशासन के माध्यम से लोकतंत्र को मजबूत किया जा सकता है। इसी संदर्भ में उन्होंने कहा था कि लोकतंत्र का वास्तविक विद्यालय स्थानीय स्वशासन ही है। 1938 में हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण के दौरान सुभाष चंद्र बोस ने साफ कहा था कि भारत की बड़ी समस्याएँ जैसे गरीबी, निरक्षरता और बीमारीकृका स्थायी समाधान केवल समाजवादी व्यवस्था से ही संभव है। उनका मानना था कि जब तक उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया को वैज्ञानिक तरीके से नहीं अपनाया जाएगा, तब तक देश की वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती। समाजवाद का मूल उद्देश्य उस शोषण को समाप्त करना है, जो लंबे समय से एक शक्तिशाली अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा गरीब और असहाय जनता पर किया जाता रहा है।[1] वस्तुतः समाजवाद केवल एक आर्थिक विकल्प नहीं था, बल्कि वह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक प्रतिरोध के रूप में भी था। उपनिवेशवाद को पूँजीवादी व्यवस्था का विस्तार माना जाता था और समाजवाद इन सभी शोषणकारी प्रणालियों का वैचारिक विरोध प्रस्तुत करता था।

राष्ट्रीय नियोजन

सुभाष चंद्र बोस ने अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्थाओं का गहराई से अध्ययन किया और माना भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए एक ठोस, व्यावहारिक और योजनाबद्ध राष्ट्रीय नीति आवश्यक है। भारत में संसाधनों की कमी और पिछड़ेपन से जूझ रहे है और इससे लड़ने के लिए देश में राष्ट्रीय नियोजन की अनिवार्यता है। जब सुभाष चंद्र भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने, तो उन्होंने राष्ट्रीय योजना को आगे बढ़ाने के लिए तुरंत कदम उठाए। अध्यक्ष बनने के केवल तीन महीने के भीतर ही उन्होंने दिल्ली में कांग्रेस–शासित राज्यों के मुख्यमंत्रियों की एक बैठक बुलाई, जिसमें राष्ट्रीय नियोजन पर गंभीर चर्चा हुई। इसके बाद उन्होंने औद्योगिक मंत्रियों का सम्मेलन आयोजित किया और स्पष्ट रूप से कहा कि आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए योजनाबद्ध विकास अनिवार्य है। उनका मानना था कि यदि भारत को गरीबी, बेरोजगारी और औद्योगिक पिछड़ेपन से बाहर निकालना है, तो संगठित और दीर्घकालिक योजना बनाकर कार्य करना होगा।[2] उन्होंने सोवियत रूस का उदाहरण देते हुए बताया कि 1920 के दशक में रूस भारत जितना ही पिछड़ा हुआ था, लेकिन मात्र अठारह वर्षों में राष्ट्रीय योजना के माध्यम से वह एक शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र बन गया। इस उदाहरण के माध्यम से उन्होंने यह स्पष्ट किया कि यदि सही नेतृत्व और दिशा मिले, तो भारत भी औद्योगिक और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन सकता है। उनकी इस सोच ने भारतीय राजनीति और जनता के बीच नियोजित विकास की अवधारणा को मजबूत किया और स्वतंत्र भारत की आर्थिक योजना की नींव रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीय नियोजन के विषय में सुभाष बाबू के कुछ विशिष्ट विचार थे। उनका मानना था कि भारत को अपनी जरूरतों और प्राथमिकताओं के अनुसार राष्ट्रीय स्वायत्तता को सर्वोच्च स्थान देना चाहिए। वे यह स्वीकार करते थे कि औद्योगिक विकास के क्षेत्र में पूरी दुनिया एक–दूसरे से जुड़ी हुई है, फिर भी उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कुछ प्रमुख क्षेत्रों में भारत को आत्मनिर्भर होना चाहिए, ताकि वह बाहरी दबावों से मुक्त रहकर अपने विकास की नीति स्वयं तय कर सके। सुभाष चंद्र बोस तकनीकी शिक्षा और अनुसंधान को राष्ट्रीय विकास की आधारशिला मानते थे। उनका विचार था कि एक सुव्यवस्थित योजना के अंतर्गत भारतीय छात्रों को विदेशों में तकनीकी प्रशिक्षण के लिए भेजा जाना चाहिए, ताकि वे आधुनिक ज्ञान और कौशल प्राप्त कर देश लौटें और नए उद्योगों की स्थापना में योगदान दें। उन्होंने यह भी कहा कि तकनीकी अनुसंधान को पूरी तरह सरकारी नियंत्रण में नहीं रखा जाना चाहिए, बल्कि उसे स्वतंत्र वातावरण दिया जाना चाहिए, जिससे नए विचारों और नवाचार को बढ़ावा मिल सके।[3] सुभाष चन्द्र देश में एक स्थायी राष्ट्रीय अनुसंधान परिषद के गठन के पक्षधर थे। उनका मानना था कि अनुसंधान से जुड़े कार्यों को सुनियोजित और समन्वित रूप से संचालित करने के लिए ऐसी संस्था आवश्यक है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए ठोस आँकड़ों और तथ्यों की आवश्यकता होती है। इसी कारण उन्होंने औद्योगिक क्षेत्र की आर्थिक स्थिति का व्यापक सर्वेक्षण कराने पर जोर दिया, ताकि योजना आयोग वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर प्रभावी योजनाएँ बना सके।

कृषि

सुभाषचंद्र बोस भारत की सबसे बड़ी समस्या गरीबी को माना। उन्होंने बतायत कि ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में फैली गरीबी के दो प्रमुख कारण है –पहला, अंग्रेजों द्वारा भारतीय उद्योगों का योजनाबद्ध विनाश और दूसरा, वैज्ञानिक कृषि पद्धतियों का अभाव। अंग्रेजों ने भारत को केवल कच्चा माल देने वाला देश बना दिया, जिससे देशी उद्योग नष्ट हो गए और उनसे जुड़े लाखों लोग बेरोजगार हो गए। इसका सीधा प्रभाव किसानों पर भी पड़ा। किसानों को न तो आधुनिक कृषि तकनीकें मिलीं और न ही उन्नत उपकरण, जिससे भूमि की उत्पादकता घटती गई।[4] परिणामस्वरूप कृषि बढ़ती जनसंख्या का बोझ उठाने में असमर्थ हो गई। सुभाषचंद्र बोस ने इस स्थिति की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा था कि लगभग 70 प्रतिशत किसान वर्ष के छह महीने तक बेरोजगार रहते हैं। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने राज्य द्वारा प्रायोजित औद्योगीकरण और वैज्ञानिक कृषि को आवश्यक बताया। उनका विचार था कि गरीबी और बेरोजगारी तभी दूर हो सकती है जब राष्ट्रीय उद्योगों को पुनर्जीवित किया जाए, कृषि में आधुनिक सुधार किए जाएँ और सस्ती ऋण सुविधाओं का विस्तार हो। कृषि सुधार के लिए सुभाषचंद्र बोस ने सबसे पहले जमींदारी प्रथा के उन्मूलन पर जोर दिया, क्योंकि यह किसानों के शोषण की मुख्य वजह थी। उनका मानना था कि जब तक भूमि किसानों की अपनी नहीं होगी, तब तक वे पूरी लगन से खेती नहीं कर पाएँगे। साथ ही उन्होंने किसानों को साहूकारों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए सस्ते और सुलभ ऋण की व्यवस्था की आवश्यकता बताई।[5] उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी समितियों के विस्तार का समर्थन किया, ताकि किसान मिल–जुलकर संसाधनों का उपयोग कर सकें। बोस कृषि को वैज्ञानिक आधार देने के पक्षधर थे। उनके अनुसार उन्नत बीज, आधुनिक उपकरण, बेहतर सिंचाई और मृदा परीक्षण से कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। सुभाषचंद्र बोस ने बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई और जल–विद्युत परियोजनाओं के लिए दीर्घकालिक योजनाओं को भी आवश्यक माना। उनका कहना था कि मिट्टी कटाव जैसी समस्याओं के समाधान के लिए नदी घाटियों का वैज्ञानिक सर्वेक्षण किया जाना चाहिए और प्राकृतिक संसाधनों का नियोजित तथा संतुलित उपयोग होना चाहिए।[6] यद्यपि, बोस का मानना था कि केवल कृषि सुधार से गरीबी और बेरोजगारी की समस्या का पूर्ण समाधान संभव नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया कि जब कृषि में दक्षता बढ़ेगी, तो कम श्रमिकों से अधिक उत्पादन संभव होगा, जिससे अतिरिक्त श्रमिक बेरोजगार हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने कृषि के साथ–साथ औद्योगीकरण को भी अनिवार्य माना।

उद्योग

सुभाष चंद्र बोस का उद्योगिक नीति व्यवहारिक और समयानुकूल था। महात्मा गांधी जहाँ औद्योगीकरण को सामाजिक और नैतिक बुराइयों का कारण मानते थे, वहीं सुभाष चंद्र बोस का मानना था कि औद्योगीकरण भले ही कुछ समस्याएँ पैदा करता हो, फिर भी आधुनिक युग में इससे बचा नहीं जा सकता। इतिहास में पीछे लौटना संभव नहीं है, इसलिए औद्योगीकरण को स्वीकार कर उससे जुड़ी समस्याओं का समाधान खोजना ही बेहतर मार्ग है। हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने स्पष्ट किया कि जो देश औद्योगिक विकास से दूर रहेगा, वह अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पाएगा। वे भारत में तीव्र और योजनाबद्ध औद्योगिक विकास के पक्षधर थे। यूरोप प्रवास के दौरान उन्होंने जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया के आधुनिक उद्योगों का अध्ययन किया और यह अनुभव किया कि भारत को भी बड़े, आधुनिक और तकनीक–आधारित उद्योगों की आवश्यकता है।[7]

सुभाष चंद्र बोस का मानना था कि भारत खनिज संपदा और प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से किसी भी विकसित देश से कम नहीं है। यदि इन संसाधनों का योजनाबद्ध और संगठित रूप से उपयोग किया जाए, तो देश का तेजी से विकास संभव है। उन्होंने कहा कि विश्व के सभी समृद्ध देशों ने औद्योगिक विकास के माध्यम से ही आर्थिक प्रगति प्राप्त की है। रूस का उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि प्रथम विश्व युद्ध से पहले उसकी स्थिति भारत जैसी थी, लेकिन सशक्त औद्योगिक नीति के कारण उसने कुछ दशकों में अपनी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर काबू पा लिया। इससे प्रेरित होकर सुभाष चंद्र बोस ने भारत में भी राज्य के स्वामित्व और नियंत्रण में एक व्यापक औद्योगिक योजना अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। उनका मानना था कि विदेशी शासन से नष्ट हुई पुरानी औद्योगिक व्यवस्था के स्थान पर एक नई, सशक्त और स्वदेशी औद्योगिक संरचना खड़ी करनी होगी, जिससे आर्थिक आत्मनिर्भरता, राष्ट्रीय गौरव और सामाजिक स्थिरता सुनिश्चित हो सके।

सुभाष चंद्र बोस कुटीर उद्योगों के महत्व को भी भली–भांति समझते थे। उनका मानना था कि कुटीर और बड़े उद्योगों के बीच कोई टकराव नहीं है। जर्मनी और जापान जैसे औद्योगिक देशों में भी कुटीर उद्योग सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। भारत में भी हथकरघा जैसे कुटीर उद्योग आज तक अपनी पहचान बनाए हुए हैं। इसलिए औद्योगीकरण का अर्थ कुटीर उद्योगों की उपेक्षा नहीं, बल्कि यह तय करना है कि कौन–से उद्योग छोटे पैमाने पर और कौन–से बड़े पैमाने पर विकसित किए जाएँ। उन्होंने उद्योगों को बड़े, मध्यम और कुटीर वर्गों में विभाजित करने तथा संतुलित विकास योजना अपनाने पर बल दिया।

बोस का मत था कि कुछ मूलभूत या मातृ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है, क्योंकि ये अन्य उद्योगों के लिए आधार प्रदान करते हैं। इनमें धातु, भारी रसायन, मशीनरी, औजार तथा रेलवे, टेलीग्राफ, टेलीफोन और रेडियो जैसे संचार उद्योग शामिल हैं। इनसे उत्पादन सस्ता, तेज और अधिक प्रभावी बनता है। इसलिए राष्ट्रीय योजना समिति को इन उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि भारत बिजली उत्पादन में बहुत पीछे है। भारत में प्रति व्यक्ति बिजली उपलब्धता अत्यंत कम है, जबकि अन्य देशों में यह कहीं अधिक है। ऊर्जा की कमी औद्योगिक विकास में बड़ी बाधा है। इसके साथ ही उन्होंने मशीनों, मशीन टूल्स, ईंधन, धातु और भारी रासायनिक उद्योगों में आत्मनिर्भरता की आवश्यकता पर जोर दिया। उनका मानना था कि भारत के प्राकृतिक संसाधनों की अभी तक सही पहचान और उपयोग नहीं हुआ है और कई क्षेत्रों पर विदेशी नियंत्रण बना हुआ है। जब तक देश अपने संसाधनों का स्वतंत्र, वैज्ञानिक और योजनाबद्ध उपयोग नहीं करेगा, तब तक वास्तविक औद्योगिक विकास संभव नहीं है।[8]

बढ़ती जनसंख्या देश के लिए अहितकर

बढ़ती जनसंख्या भविष्य में देश के लिए गंभीर संकट बन सकती है, इस बात को सुभाष चंद्र बोस समय रहते यह समझ लिया था। ज्ञातव्य हो कि उन्होंने यह प्रश्न नहीं उठाया कि भारत की जनसंख्या अधिक है या नहीं, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से यह कहा कि जब देश गरीबी, भुखमरी और बीमारी से जूझ रहा हो, तब तेजी से बढ़ती जनसंख्या विनाशकारी सिद्ध हो सकती है। उन्होंने यह चेतावनी दी थी कि यदि जनसंख्या वृद्धि इसी गति से जारी रही, तो विकास की सभी योजनाएँ विफल हो जाएँगी। सुभाष चंद्र बोस का कहनम था कि जब तक राज्य प्रत्येक नागरिक को पर्याप्त भोजन, वस्त्र और शिक्षा उपलब्ध कराने में सक्षम न हो जाए, तब तक जनसंख्या नियंत्रण आवश्यक है।[9] उनके विचार आज भी पूरी तरह प्रासंगिक हैं।

शिक्षित युवा और बेरोजगारी

सुभाष चंद्र बोस शिक्षित युवाओं में बढ़ती बेरोजगारी से गहराई से चिंतित थे। उन्होंने अनुभव किया कि शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी युवाओं को रोजगार नहीं मिल पाता और वे कई बार किसानों से भी बदतर स्थिति में पहुँच जाते हैं। 1927 के अखिल बंगाल युवा सम्मेलन में उन्होंने युवाओं को केवल सरकारी नौकरियों पर निर्भर न रहने की सलाह दी। उनका मानना था कि यदि युवा केवल नौकरी की प्रतीक्षा करते रहेंगे, तो भविष्य में भुखमरी और निराशा बढ़ेगी। उन्होंने युवाओं को व्यापार, उद्योग और उद्यमिता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया, ताकि वे आत्मनिर्भर बन सकें और देश की आर्थिक प्रगति में योगदान दे सकें।

श्रमिक वर्ग

सुभाष चंद्र बोस श्रमिक वर्ग के सशक्त समर्थक थे। उनका मानना था कि समाजवादी राज्य का कर्तव्य किसानों, श्रमिकों और मेहनतकश वर्गों के हितों की रक्षा करना है, न कि पूँजीपतियों और जमींदारों के स्वार्थों को बढ़ावा देना। उन्होंने बेरोजगारी, छंटनी और न्यूनतम मजदूरी जैसी समस्याओं को राज्य की जिम्मेदारी माना। उनके अनुसार, प्रत्येक नागरिक को काम पाने का अधिकार है और यदि राज्य यह उपलब्ध नहीं करा सकता, तो उसे जीवन–निर्वाह की जिम्मेदारी भी उठानी चाहिए। [10] उन्होंने श्रमिकों के लिए जीविका मजदूरी, बीमा और दुर्घटना मुआवजे की आवश्यकता पर बल दिया। साथ ही, किसानों को भारी करों और ऋणग्रस्तता से मुक्त करने की बात कही। उनका लक्ष्य एक न्यायपूर्ण और श्रमिक–किसान केंद्रित समाज की स्थापना था।

ट्रेड यूनियन

सुभाष चंद्र बोस ट्रेड यूनियन आंदोलन के प्रबल समर्थक थे। उनका विश्वास था कि श्रमिकों की समस्याओं का समाधान संगठित ट्रेड यूनियन आंदोलन के माध्यम से ही संभव है। वे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से जुड़े रहे और विभिन्न वैचारिक धाराओं के बीच संतुलन बनाए रखने का प्रयास करते रहे। उनकी विचारधारा समाजवादी थी, लेकिन वे न तो दक्षिणपंथी दृष्टिकोण से सहमत थे और न ही अतिवादी साम्यवाद से। वे एक स्वतंत्र, स्वदेशी और व्यावहारिक समाजवादी मार्ग के पक्षधर थे। कांग्रेस अध्यक्ष के रूप

में उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कांग्रेस को मजदूर और किसान संगठनों के साथ सहयोग करना चाहिए। उनका मानना था कि इन संगठनों की उपेक्षा करना संभव नहीं है, क्योंकि वे ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज हैं। उन्होंने सभी प्रगतिशील और साम्राज्यवाद–विरोधी शक्तियों को एक मंच पर लाने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके साथ ही सुभाष चंद्र बोस विदेशी हस्तक्षेप के विरोधी थे। वे मानते थे कि भारतीय श्रमिक आंदोलन को अपनी दिशा स्वयं तय करनी चाहिए। विदेशी अनुभवों से सीख लेना उचित है, लेकिन भारत को किसी भी विदेशी शक्ति के निर्देशों पर नहीं चलना चाहिए। उनके अनुसार, भारतीय परिस्थितियाँ भिन्न हैं और समाधान भी देश की जरूरतों के अनुसार ही होने चाहिए।[11]

निष्कर्ष

वस्तुतः सुभाष चंद्र बोस के आर्थिक विचार स्पष्ट, व्यावहारिक और दूरदर्शी थे। उनका विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता तभी सार्थक होगी जब भारत सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक रूप से भी न्यायपूर्ण और आत्मनिर्भर बने। वे समाजवादी विचारों से प्रेरित थे, लेकिन उन्होंने भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एक स्वतंत्र समाजवादी मॉडल की कल्पना की। किसानों और श्रमिकों को उन्होंने समाज की रीढ़ माना और योजना आधारित विकास पर विशेष बल दिया। उनका सपना एक ऐसे भारत का था जहाँ सभी नागरिकों को समान अवसर, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार मिले। अंततः हम कह सकते है कि सुभाषचंद्र बोस का दृष्टिकोण इसी समग्रता पर आधारित था। यदि हम समाज का वास्तविक और स्थायी कल्याण चाहते हैं, तो हमें जीवन के विभिन्न पहलुओं को एकीकृत दृष्टिकोण से देखना होगा। यही कारण है कि सुभाष चंद्र बोस विचार केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक भी थे ; वे ज़मीनी हकीकतों को ध्यान में रखकर विचार करते थे। उनके आर्थिक विचारों में हमें भारतीय संस्कृति की गहराई, समय की मांग, और राष्ट्र के भविष्य की झलक मिलती है।

संदर्भ सूची –

1 सुभाष चंद्र बोसः पॉयनियर ऑफ इंडियन प्लानिंग, पृष्ठ 66.
2 सुभाष चंद्र बोस, भारतीय संघर्ष 1920–1942, नेताजीः संग्रहित कार्य, खंड 2, संपादकः शिशिर कुमार बोस और सुगाता बोस, नेताजी अनुसंधान ब्यूरो, कलकत्ता, 1997, पृष्ठ 378.
3 एस.सी. बोस, क्रॉसरोड्स (सुभाष चंद्र बोस 1938–1940 की संकलित कृतियाँ), नेताजी रिसर्च ब्यूरो, एशिया पब्लिशिंग हाउस, न्यूयॉर्क, 1962, पृष्ठ 69,70.
4 भारतीय संघर्ष, पूर्वोक्त, पृष्ठ 47.
5 एस.ए. आयर (संपादक), एस.सी. बोस के चयनित भाषण, प्रकाशन प्रभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1962, पृष्ठ 84.
6 एस. सी. बोस, पूर्वोक्त, पृष्ठ 65.
7 एस.सी. बोस, पूर्वोक्त, पृष्ठ. 69.
8 वही, पृष्ठ 81.
9 वही, पृष्ठ 82.
10 एस.सी. बोस, द मिशन ऑफ़ लाइफ़, पृष्ठ 222.
11 एस.ए. आयर (संपादक), एस.सी. बोस के चयनित भाषण, प्रकाशन प्रभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1962, पृष्ठ 64,65.

राजनीति में महिलाओं की सहभागिता एवं सशक्तिकरण

Dr. Ramanuj Chaudhary*

देश या राज्य की राजनीति मं महिलाओं की नगण्य सहभागिता उनके निम्न स्तर तथा शक्तिविहिनता को दर्शाती है। मतदाता के रूप में महिलाओं की भूमिका पुरूषों के समान है। न केवल महिला मतदाताओं की संख्या मं वृद्धि हुई है बल्कि महिला तथा पुरूष मतदाताओं के बीच का अंतर भी निरंतर कम हो रहा है। परन्तु इसके विपरित महिलाओं का राजनैतिक पद प्राप्त करने का अनुपात कम ह। इतने वर्षों में महिलाओं का राजनैतिक पद प्राप्त करने का अनुपात कम है। इतने वर्षों में महिला प्रत्याशियों की संख्या में वृद्धि देखने को नहीं मिली है। लोकसभा तथा राजसभा में महिलाओं की संख्या अधिक नहीं बढ़ी है। राज्य विधायिका में भी महिलाओं के प्रतिनिधित्व में 1950 से अब तक बहुत सुधार देखने को नहीं मिला है। इनमें वे राज्य भी सम्मिलित है जिनकी मुख्यमंत्री या राज्यपाल महिला है। मंत्रियों को महत्वपूर्ण विभाग नहीं मिलते यद्‌यपि महिलाओं ने इन्हें उचित ढंग से संभालने के सामर्थ्य को दर्शाया है।

एक प्रमुख परिवर्तन सवंधान का प्रस्तावित 81वें संशोधन बिल है जो संसद तथ राज्य विधायिका में महिलाओं के लिलए एक तिहाई सीटें आरक्षित करने का प्रस्ताव रखता है। महिला सशक्तिकरण की ओर इस बिल का ऐतिहासिक महत्व है, परन्तु इसकी सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि ढेर सारी पार्टियाँ तो इसकी विरोधी है ही खुद वे पार्टियाँ भी जो अपनी सोच तथा व्यापकता के आधार पर राष्ट्रीय होने का दावा करती है, जो खुद इस बिल को लोकसभा में पास होने के लिए रखती है।

विश्व के संसद में महिलाओं की संख्या

देश	संसद में कुल संख्या	महिलाओं की संख्या
अमेरिका	435	73
ब्रिटेन	646	126
स्वीडन	349	162
दक्षिण अफ्रीका	400	178
क्यूबा	614	265
नेपाल	594	197
जर्मनी	622	204
स्विटजरलैण्ड	200	58
अफगानिस्तान	249	68
आस्ट्रलिया	150	41
इराक	275	70
यूएई	40	9
पाकिस्तान	342	76
कनाडा	308	68
चीन	2987	637
फ्रांस	577	109
बांग्लादेश	345	64
जपान	480	54
भारत(10.8 प्रतिशत)	545	59
ब्राजिल	513	45
श्रीलंका	225	13
ईरान	290	8

स्त्रोत :– अंतर संसदीय संघ रिपोर्ट, 2000

* Dept. of Geography, Visiting Faculty, Nalanda College, Biharsharif
Email Id- rnanujch.5120@gmail.com, Contact: 8603636637

उपयुक्त आकड़ों से यह स्पष्ट है कि विश्व के सभी देशों में महिलाओं की भागिदारी राजनीति में व्याप्त है। जहाँ भारत में कुल 545 लोकसभा सदस्यों में 59 महिलाओं के लिए है जो 10.8 प्रतिशत दर्शाता है।

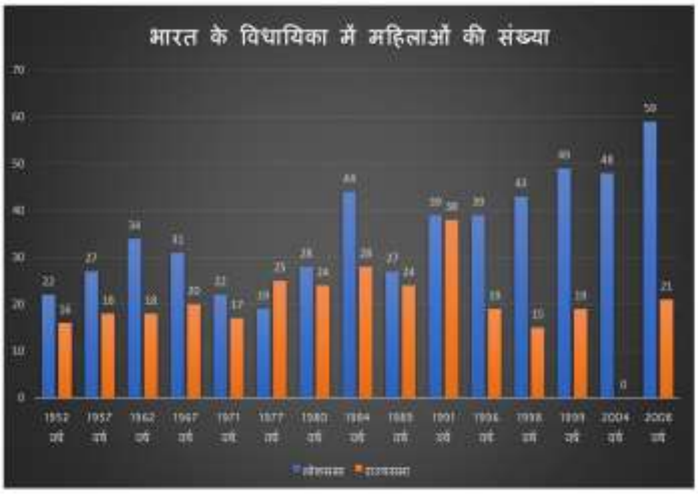

स्त्रोतः– अंतर संसदीय संघ रिर्पोट, 2000

भारत के विधायिका में महिलाओं की संख्या

वर्ष	लोकसभा			राजसभा		
	सीट	महिलाओं की संख्या	महिलाओं की प्रतिशत	सीट	महिलाओं की संख्या	महिलाओं की प्रतिशत
1952	499	22	4.41	219	16	7.31
1957	500	27	5.40	237	18	7.59
1962	503	34	6.76	238	18	7.56
1967	523	31	5.93	240	20	8.33
1971	521	22	4.22	243	17	7.00
1977	544	19	3.49	244	25	10.25
1980	544	28	5.15	244	24	9.84
1984	544	44	8.09	244	28	11.48
1989	517	27	522	245	24	9.80
1991	544	39	7.17	245	38	15.51
1996	543	39	7.18	223	19	8.52
1998	543	43	7.92	245	15	6.12
1999	543	49	9.02	245	15	6.76
2004	543	48	9.01	0	0	0.00
2008	543	59	10.80	238	21	8.82

उपयुक्त आकड़ों में भारत देश के लोकसभा तथा राजसभा में महिलाओं की संख्या एवं उसका प्रतिशत दर्शाया गया है, जो कि 1952 से लेकर 2008 तक है।

बात अगर बिहार की करे तो बिहार विधानसभा चुनाव 2020 में 60 प्रतिशत महिलाओं ने वोट किया, पर उनके खाते में मोत्र 11 प्रतिशत सीटें ही आई। इस बार चुनाव में महिलाओं ने बढ़–चढ़ कर भाग लिया।

59.69 प्रतिशत महिलाओं ने वोट किया, लेकिन उनके खाते में मात्र 10.6 प्रतिशत यानि 26 सीटे ही आई है। विधानसभा चुनाव 2020 में कुल 3733 उम्मीदवार चुनाव मैदान में थे। इनमें 370 महिलाएँ थीं। यदि कुल उम्मीदवार का 9.91 प्रतिशत महिलाएँ चुनाव में उतरी, हालाँकि कुल महिला उम्मीदवार में 7.02 प्रतिशत ही जीत हासिल कर सकी। संख्या के लिहाजा से 2020 मे 26 सीटें महिलाएँ जीती है, जबकि 2015 में 28 सीटे जीत कर विधान सभा पहुँचे थे। गया जिले में विधान सभाा चुनाव 2020 में कुल 21 महिलाओं ने 10 विधानसभा सीटों पर चुनाव में उतरी थी। जिसमें मात्र 2 ही लेकर विधानसभा में पहुँची। जिसमें शोरघाटी विधानसभा से मंजु अग्रवाल तथा बाराचट्टी से ज्योति देवी चुनाव जीत कर महिला सशक्तिकरण को नयी आयाम दिया। दोनों महिलाएँ अपने क्षेत्र में कम–से–कम महिलाएँ के लिए आवाज जरूर बुलंद करेंगी।

संदर्भ सूचीः–

1. भारतीय सवंधिान – डा० बसु, डी० डी०
2. महिला एवं बाल कानून – बावेल, बी० एल०
3. U.N.A. रिपोर्ट 1993, 2002, 2008
4. लोकतंत्र की चुनौतियाँ – सिन्हा, सच्चिदानन्द
5. भारत में राजनीति कल और आज– डा० कोठारी, रजनी
6. भारत में पंचायती राज– अग्रवाल, प्रमोद कुमार
7. हिन्दुस्तान
8. The Hindu
9. इण्डिया टुडे

भारतीय समाज में जातियों के विशेषाधिकर तथा कर्तव्य : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. मीरा कुमारी*

सार :

प्रस्तुत अध्ययन ''भारतीय समाज में जातियों के विशेषाधिकर तथा कर्तव्य : एक ऐतिहासिक विश्लेषण'' का अध्ययन है। भारतीय समाज की सामाजिक संरचना में जाति व्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज विभिन्न वर्णों और जातियों में विभाजित रहा, जिनके लिए अलग–अलग अधिकार, विशेषाधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित किए गए थे। यह व्यवस्था केवल सामाजिक संगठन तक सीमित नहीं थी, बल्कि धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों को भी प्रभावित करती थी। समाज में प्रत्येक जाति को उसके पारंपरिक कार्यों और व्यवसायों के आधार पर एक निश्चित स्थान प्रदान किया गया था, जिसके अनुसार उसके अधिकारों और दायित्वों का निर्धारण किया जाता था। प्राचीन धर्मग्रंथों, धर्मशास्त्रों और सामाजिक परंपराओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों के लिए भिन्न–भिन्न सामाजिक कर्तव्य और विशेषाधिकार निर्धारित किए गए थे। समय के साथ–साथ यह व्यवस्था अधिक जटिल रूप धारण करती गई तथा जातियों और उपजातियों की संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई। प्रस्तुत शोध लेख का उद्देश्य भारतीय समाज में विभिन्न जातियों को प्राप्त विशेषाधिकारों और उनके कर्तव्यों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना है, साथ ही यह समझने का प्रयास करना है कि इस व्यवस्था ने समाज की संरचना, कार्यप्रणाली और विकास को किस प्रकार प्रभावित किया।

विशिष्ट शब्द : कार्यप्रणाली, जाति व्यवस्था, विशेषाधिकार, कर्तव्य, सामाजिक स्तरीकरण, वर्ण व्यवस्था, भारतीय समाज आदि।

प्रस्तावना

भारतीय समाज की संरचना विश्व की सबसे प्राचीन और जटिल सामाजिक व्यवस्थाओं में से एक मानी जाती है। इस सामाजिक संरचना का सबसे महत्वपूर्ण तत्व जाति व्यवस्था है, जिसने हजारों वर्षों तक भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरचना को प्रभावित किया। जाति व्यवस्था केवल एक सामाजिक विभाजन नहीं थी, बल्कि यह एक ऐसी संस्था थी जिसने व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, व्यवसाय, विवाह संबंध, धार्मिक अधिकार और सामाजिक कर्तव्यों को निर्धारित किया।

प्राचीन भारतीय समाज में प्रारंभिक रूप से यह व्यवस्था वर्ण व्यवस्था के रूप में विकसित हुई थी। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में समाज को चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकृमें विभाजित किया गया है। इन चारों वर्णों को समाज के विभिन्न कार्यों के लिए उत्तरदायी माना गया था। ब्राह्मणों को ज्ञान और धर्म से संबंधित कार्यों का दायित्व दिया गया, क्षत्रियों को शासन और रक्षा का, वैश्यों को व्यापार और उत्पादन का तथा शूद्रों को सेवा कार्यों का दायित्व सौंपा गया।[1]

यह व्यवस्था मूलतः कार्य विभाजन के सिद्धांत पर आधारित थी, जिसका उद्देश्य समाज में संतुलन और संगठन बनाए रखना था। परंतु कालांतर में यह व्यवस्था जन्म आधारित हो गई और सामाजिक गतिशीलता सीमित हो गई। परिणामस्वरूप समाज में विभिन्न जातियों और उपजातियों का विकास हुआ, जिनके लिए अलग–अलग सामाजिक नियम और प्रतिबंध निर्धारित किए गए।

धर्मशास्त्रों, विशेष रूप से मनुस्मृति और अन्य स्मृतिकारों ने जातियों के अधिकारों और कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित किया। ब्राह्मणों को शिक्षा और धार्मिक अनुष्ठानों का अधिकार प्राप्त था, क्षत्रियों को शासन और सैन्य शक्ति का अधिकार दिया गया, वैश्यों को आर्थिक गतिविधियों का संचालन करने का अधिकार प्राप्त था, जबकि शूद्रों के लिए सेवा और श्रम से संबंधित कार्य निर्धारित किए गए थे।

जाति व्यवस्था के अंतर्गत केवल कर्तव्यों का ही निर्धारण नहीं किया गया था, बल्कि विभिन्न जातियों को विशिष्ट विशेषाधिकार भी प्रदान किए गए थे। उदाहरण के लिए, ब्राह्मणों को सामाजिक सम्मान, करों से

* पी–एच0 डी0, प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob No. : 96311 86509, E-mail id : Meera18580@gmail.com

छूट और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। क्षत्रियों को राजनीतिक शक्ति और प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। वैश्यों को व्यापार और आर्थिक गतिविधियों में स्वतंत्रता प्राप्त थी। वहीं शूद्रों को सामाजिक रूप से निम्न स्थान प्राप्त था और उनके अधिकार सीमित थे।[2]

समय के साथ–साथ यह व्यवस्था अधिक जटिल होती गई। मध्यकाल में विभिन्न पेशों और सामाजिक समूहों के आधार पर अनेक नई जातियों और उपजातियों का उदय हुआ। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश प्रशासन ने जनगणना और प्रशासनिक नीतियों के माध्यम से जाति व्यवस्था को एक नई संरचना प्रदान की, जिससे जातीय पहचान और अधिक सुदृढ़ हो गई।

हालाँकि आधुनिक काल में सामाजिक सुधार आंदोलनों तथा भारतीय संविधान के प्रावधानों के कारण जाति आधारित भेदभाव को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए गए हैं। भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान किए हैं और जाति के आधार पर भेदभाव को अवैध घोषित किया है।

जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

- भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का विकास एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। प्रारंभिक वैदिक काल में समाज अपेक्षाकृत लचीला था और वर्णों के बीच कठोर विभाजन नहीं था। व्यक्ति अपनी योग्यता और कर्म के आधार पर सामाजिक स्थिति प्राप्त कर सकता था।
- उत्तर वैदिक काल में समाज अधिक संगठित और जटिल हो गया। इस समय वर्ण व्यवस्था अधिक कठोर होती गई और जन्म आधारित सामाजिक स्थिति का महत्व बढ़ने लगा। धर्मशास्त्रों और स्मृतियों ने इस व्यवस्था को वैधता प्रदान की।
- मध्यकाल में विभिन्न पेशों, क्षेत्रों और समुदायों के आधार पर नई जातियों और उपजातियों का उदय हुआ। इस काल में जाति व्यवस्था समाज की प्रमुख सामाजिक संस्था बन गई।
- औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा किए गए प्रशासनिक सुधारों और जनगणनाओं ने जाति व्यवस्था को एक नई पहचान प्रदान की। इससे जातीय वर्गीकरण और अधिक स्पष्ट हो गया।

भारतीय समाज में जातियों के विशेषाधिकार

- **धार्मिक विशेषाधिकार :** प्राचीन भारतीय समाज में धार्मिक अधिकारों का मुख्य केंद्र ब्राह्मण वर्ग था। उन्हें वेदों के अध्ययन और अध्यापन का विशेषाधिकार प्राप्त था। धार्मिक अनुष्ठानों, यज्ञों और संस्कारों का संचालन भी ब्राह्मणों द्वारा किया जाता था।
- **राजनीतिक विशेषाधिकार :** क्षत्रिय वर्ग को शासन और प्रशासन से संबंधित अधिकार प्राप्त थे। राज्य की रक्षा, युद्ध संचालन तथा प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन क्षत्रियों का प्रमुख कार्य था।
- **आर्थिक विशेषाधिकार :** वैश्य वर्ग को व्यापार, कृषि और पशुपालन से संबंधित अधिकार प्राप्त थे। वे समाज की आर्थिक गतिविधियों के प्रमुख संचालक थे और आर्थिक समृद्धि में उनका महत्वपूर्ण योगदान था।
- **सामाजिक प्रतिष्ठा :** उच्च जातियों को समाज में अधिक सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। सामाजिक और धार्मिक आयोजनों में उन्हें प्रमुख स्थान दिया जाता था।

भारतीय समाज में जातियों के कर्तव्य

- **ब्राह्मणों के कर्तव्य :** ब्राह्मणों का मुख्य कर्तव्य ज्ञान का संरक्षण और प्रसार करना था। वे शिक्षा प्रदान करते थे तथा समाज को नैतिक और धार्मिक दिशा देते थे।
- **क्षत्रियों के कर्तव्य :** क्षत्रियों का प्रमुख कर्तव्य राज्य की रक्षा करना और न्यायपूर्ण शासन स्थापित करना था।
- **वैश्यों के कर्तव्य :** वैश्य वर्ग का कर्तव्य आर्थिक गतिविधियों का संचालन करना था। वे व्यापार, कृषि और पशुपालन के माध्यम से समाज की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करते थे।
- **शूद्रों के कर्तव्य :** शूद्रों का मुख्य कर्तव्य अन्य वर्णों की सेवा करना और समाज के श्रम आधारित कार्यों को संपन्न करना था।

जाति व्यवस्था का सामाजिक प्रभाव : जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को एक संगठित संरचना प्रदान की, लेकिन इसके साथ–साथ यह सामाजिक असमानता का कारण भी बनी। इस व्यवस्था के कारण समाज में उच्च और निम्न वर्गों के बीच अंतर बढ़ गया। सामाजिक सुधार आंदोलनों, जैसे भक्ति आंदोलन और आधुनिक सामाजिक सुधार आंदोलनों ने इस व्यवस्था की आलोचना की और समानता की भावना को बढ़ावा दिया।

अतः ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज के संगठन और कार्य विभाजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसलिए जातियों के विशेषाधिकार और कर्तव्यों का ऐतिहासिक अध्ययन भारतीय समाज के विकास और परिवर्तन को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

साहित्य समीक्षा

संजय कुमार सिंह (2024) ने अपने शोध में भारतीय समाज में जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उसके सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था भारतीय समाज की एक जटिल सामाजिक संस्था है जिसने सामाजिक संबंधों, आर्थिक अवसरों तथा राजनीतिक भागीदारी को गहराई से प्रभावित किया है। अध्ययन में यह बताया गया है कि आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था के बावजूद जातिगत असमानताएँ अभी भी सामाजिक जीवन में दिखाई देती हैं।[1]

सरला किशन सनप (2024) ने भारतीय साहित्य में जाति व्यवस्था के चित्रण का अध्ययन करते हुए यह बताया कि साहित्य ने समाज में विद्यमान जातिगत भेदभाव और असमानताओं को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनके अनुसार साहित्यिक कृतियाँ सामाजिक चेतना के विकास और जाति आधारित शोषण के विरुद्ध जागरूकता फैलाने का माध्यम बनी हैं।[2]

हेमलता अलापाटी एवं रंजना दास सरकार (2023) ने भारतीय समाज में जाति और सामाजिक स्तरीकरण के संबंध का अध्ययन किया है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था सामाजिक असमानता की एक महत्वपूर्ण संरचना है, जो व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक अवसरों तथा सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। अध्ययन में यह भी बताया गया है कि आधुनिक समाज में शिक्षा और आर्थिक विकास के कारण जाति व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन आ रहा है।[3]

रविन्द्र कुमार सिंह (2023) ने भारतीय समाज और साहित्य में जाति समस्या के विभिन्न आयामों का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था ने समाज में सामाजिक विभाजन और असमानता को बढ़ावा दिया है। उन्होंने यह भी बताया कि सामाजिक सुधार आंदोलनों तथा आधुनिक शिक्षा ने जातिगत भेदभाव के विरुद्ध नई चेतना उत्पन्न की है।[4]

अरविन्द कुमार (2022) ने भारतीय समाज में जाति व्यवस्था की सामाजिक एवं आर्थिक भूमिका का अध्ययन करते हुए बताया कि प्राचीन काल में जाति व्यवस्था मुख्यतः कार्य विभाजन के सिद्धांत पर आधारित थी। किंतु समय के साथ यह व्यवस्था कठोर होती गई और सामाजिक गतिशीलता सीमित हो गई, जिससे समाज में असमानता बढ़ने लगी।[5]

नरेन्द्र कुमार शर्मा (2021) ने अपने अध्ययन में भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था ने समाज को संगठित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, किंतु इसके कारण सामाजिक असमानता और भेदभाव भी उत्पन्न हुआ। उन्होंने यह भी बताया कि आधुनिक काल में संवैधानिक प्रावधानों के माध्यम से इन असमानताओं को दूर करने का प्रयास किया गया है।[6]

योगेन्द्र सिंह (2019) ने भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन किया है। उनके अनुसार आधुनिक शिक्षा, नगरीकरण और औद्योगीकरण के कारण जाति व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन आया है तथा सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है।[7]

गेल ओमवेद (2018) ने दलित आंदोलन और सामाजिक न्याय के संदर्भ में जाति व्यवस्था का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था भारतीय समाज में असमानता की एक प्रमुख संरचना रही है, जिसके विरुद्ध विभिन्न सामाजिक आंदोलनों ने संघर्ष किया है।[8]

सुजाता गिडला (2017) ने अपने अध्ययन में दलित समुदाय के सामाजिक अनुभवों का विश्लेषण करते हुए बताया कि जाति व्यवस्था ने निम्न वर्गों को लंबे समय तक सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक अवसरों से वंचित रखा है। उन्होंने दलित समाज के संघर्ष और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है।[9]

भीमराव रामजी अम्बेडकर (2014) ने जाति व्यवस्था की आलोचना करते हुए यह कहा कि यह व्यवस्था सामाजिक असमानता और भेदभाव को बढ़ावा देती है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था का उन्मूलन सामाजिक समानता और लोकतांत्रिक समाज के निर्माण के लिए आवश्यक है।[9]

राम शरण शर्मा (2012) ने प्राचीन भारतीय समाज की सामाजिक और आर्थिक संरचना का अध्ययन करते हुए बताया कि जाति व्यवस्था का विकास ऐतिहासिक परिस्थितियों और आर्थिक संरचना के प्रभाव से हुआ। उनके अनुसार यह व्यवस्था प्रारंभ में कार्य विभाजन पर आधारित थी, किंतु बाद में यह जन्म आधारित सामाजिक विभाजन में परिवर्तित हो गई।[10]

गोविंद सदाशिव घुर्ये (2008) ने भारतीय जाति व्यवस्था की विशेषताओं का विस्तृत विश्लेषण किया है। उन्होंने जाति व्यवस्था को सामाजिक स्तरीकरण की एक विशिष्ट प्रणाली बताते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं जैसेकृ वंशानुगत पेशा, सामाजिक प्रतिबंध, विवाह संबंधी नियम तथा सामाजिक पदानुक्रम का वर्णन किया है।[11]

उद्देश्य

1. भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करना।
2. विभिन्न जातियों को प्राप्त सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विशेषाधिकारों का विश्लेषण करना।
3. भारतीय समाज में विभिन्न जातियों के कर्तव्यों और सामाजिक भूमिकाओं का अध्ययन करना।
4. जाति व्यवस्था के कारण उत्पन्न सामाजिक असमानताओं और उनके प्रभावों का विश्लेषण करना।
5. आधुनिक भारतीय समाज में जाति आधारित विशेषाधिकारों और कर्तव्यों में आए परिवर्तनों का अध्ययन करना।

परिकल्पना

1. भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का विकास मुख्यतः सामाजिक संगठन और कार्य विभाजन की आवश्यकता के कारण हुआ था।
2. प्राचीन भारतीय समाज में विभिन्न जातियों को उनके कार्यों और सामाजिक स्थिति के आधार पर विशिष्ट विशेषाधिकार प्रदान किए गए थे।
3. जाति व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक जाति के लिए निश्चित कर्तव्य निर्धारित किए गए थे, जिनका पालन सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक माना जाता था।
4. समय के साथ जाति व्यवस्था में कठोरता बढ़ने के कारण सामाजिक असमानता और भेदभाव की स्थिति उत्पन्न हुई।
5. आधुनिक भारत में संवैधानिक प्रावधानों और सामाजिक सुधार आंदोलनों के कारण जाति आधारित विशेषाधिकारों और कर्तव्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था के रूप में विकसित हुई। प्रारंभिक काल में यह व्यवस्था मुख्यतः कार्य विभाजन और सामाजिक संगठन को बनाए रखने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी। विभिन्न वर्णों और जातियों के लिए अलग–अलग कर्तव्य निर्धारित किए गए थे, जिनके माध्यम से समाज के विभिन्न कार्यों का संचालन किया जाता था। ब्राह्मणों को धार्मिक और शैक्षिक कार्यों का दायित्व सौंपा गया, क्षत्रियों को शासन और सुरक्षा का कार्य दिया गया, वैश्यों को व्यापार और आर्थिक गतिविधियों का संचालन करने का अधिकार प्राप्त था तथा शूद्रों को सेवा और श्रम से संबंधित कार्यों का दायित्व दिया गया। इस प्रकार समाज में कार्यों का स्पष्ट विभाजन दिखाई देता है। हालाँकि समय के साथ यह व्यवस्था जन्म आधारित और कठोर होती गई, जिसके परिणामस्वरूप समाज में उच्च और निम्न वर्गों के बीच असमानता बढ़ने लगी। कई जातियों को सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, जिससे सामाजिक भेदभाव और असमानता की स्थिति उत्पन्न हुई।

आधुनिक काल में सामाजिक सुधार आंदोलनों तथा भारतीय संविधान के प्रावधानों के माध्यम से जाति आधारित भेदभाव को समाप्त करने के प्रयास किए गए हैं। संविधान ने सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान किए हैं और सामाजिक न्याय तथा समानता के सिद्धांत को स्थापित करने का प्रयास किया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, किंतु इसके साथ–साथ यह सामाजिक असमानता का कारण भी बनी। इसलिए वर्तमान समय में समानता, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों के आधार पर समाज के पुनर्गठन की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु (2005) प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, नई दिल्ली, सरस्वती सदन, पृ. 142
2. घुर्ये, जी. एस. (2008) भारत में जाति और वर्ग, नई दिल्ली, रावत प्रकाशन, पृ. 48

3. सिंह, संजय कुमार (2024) भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का समकालीन विश्लेषण, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन, पृ0 78
4. सनप, सरला किशन (2024) भारतीय साहित्य में जाति आधारित सामाजिक यथार्थ, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन,पृ0 147
5. अलापाटी, हेमलता, एवं सरकार, रंजना दास, (2023) भारतीय समाज में जाति और सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन, पृ0 124
6. सिंह, रविन्द्र कुमार (2023) भारतीय समाज और साहित्य में जाति समस्या का अध्ययन, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन,पृ0 62
7. कुमार, अरविन्द (2022) भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का सामाजिक एवं आर्थिक विश्लेषण, जयपुर, रावत पब्लिकेशन, पृ0 74
8. शर्मा, नरेन्द्र कुमार (2021) भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक अध्ययन, जयपुर, रावत पब्लिकेशन,पृ0 58
9. सिंह, योगेन्द्र (2019) भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन नई दिल्ली, रावत पब्लिकेशन, पृ0 19
10. ओमवेद, गेल (2018) दलित और लोकतांत्रिक क्रांतिरू डॉ. अम्बेडकर और दलित आंदोलन, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन, पृ0 94
11. अम्बेडकर, भीमराव रामजी, (2014) जाति का उन्मूलन(Annihilation of Caste), नई दिल्ली, सम्यक प्रकाशन, पृ0 33
12. शर्मा, जे. के. (2012) प्राचीन भारतीय समाज की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना नई दिल्ली, रावत पब्लिकेशन, पृ0 74
13. घुर्ये, गोविंद सदाशिव (2008) भारत में जाति और वर्ग (Caste and Race in India), मुंबई, पॉपुलर प्रकाशन, पृ0 36

सामंतवाद का भारतीय परिप्रेक्ष्य : एक अवलोकन

अंकित कुमार*

भारतीय इतिहास –लेखन में सामंतवाद का सिद्धांत 20वीं शताब्दी मध्य में आया। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में पूरी दुनिया में यूरोप का विस्तार हुआ। इसके साथ ही साथ इसकी बौद्धित अवधारणाएं जैसे ऐतिहासिक विश्लेषण की विभिन्न श्रेणियां, पूरी दुनिया में फैल गयी। 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के आरंभ में जापान, चीन और भारत जैसे समाज अपने अतीत को सामंतवाद की शब्दावली में पुनर्रचित करने लगे। 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के दौरान यह शब्द इतिहास–लेखन का प्रमुख हिस्सा बन गया। अब इतिहास और समाज को एक 'सामंतवाद', 'पूंजीवाद', 'समाजवाद', सबको एक आर्थिक व्यवस्था, राजनीति संगठन, एक–दर्शन और एक नैतिक मूल्य की इकाई के रूप में देखा गया, जिसमें ये सभी समाहित थे। ऐसा माना गया कि इतिहास एक संपूर्ण व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था की ओर चलता है। 'सामंतवाद' की अवधारणा पूर्व मध्यकालीन व्यवस्था एवं मध्यकालीन व्यवस्था से आया। पूंजीवादी दौर में विभिन्न लोकतांत्रिक आन्दोलन, सामाजिक–धार्मिक सुधारों में 'समानता' की बातें आधुनिक काल में हो रही थी। इसी परिदृश्य में विश्व–पटल' पर सामंतवादी–व्यवस्था की एकरूपता को खोजने का प्रयास हुआ परन्तु सभी देशों तथा विभिन्न स्थानों में विविध्ता होती है, जिसके फलस्वरूप सामंतवाद की अवधारणा विस्तृत होने लगा। इसके क्षेत्रीय प्रारूप सामने आने लगे। इसलिए सामंतवाद ऐतिहासिक परिघटना की अपेक्षा इतिहास–लेखन की प्रक्रिया ज्यादा है। इसका तात्पर्य है कि यह एक ऐसी अवधारणा है जिसके सांचे में पहले मध्यकालीन यूरोप और उसके बाद मध्ययुगीन दुनिया के दूसरे हिस्सों को एक विशेष काल में विश्लेषित किया गया।[2]

'फ्युडल' (सामंती) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द फियोडेलिस (feodalis) से हुई, परन्तु मध्यकालीन यूरोप में इस शब्द का इस्तेमाल कानूनी अर्थ में किया जाता था। यह किसी जटिल सामाजिक संगठन को नहीं बल्कि एक प्रकार के संपत्तिगत अधिकार को इंगित करता था। 'फ्यूडलिज्म' (सामंतवाद) शब्द का प्रचार मुख्य रूप से 18वीं शताब्दी के फ्रासीसी दार्शनिक बूलैंवीर्य और मौन्तेसक्यू की रचनाओं के जरिये हुआ। ये इस शब्द का प्रयोग मध्ययुग के दौरान छोटे–छोटे राजकुमारों और अधिपतियों की संप्रभुता में साझेदारी को व्याख्यायित करने के लिए कर रहे थे। फ्रांसीसी क्रांति के दौरान प्राचीन व्यवस्था की आलोचना करने के लिए इस शब्द का विस्तृत इस्तेमाल किया गया। आमतौर पर पांचवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवी शताब्दी तक के यूरोपीय समाज को ही सामंतवादी कहा जाता है। यूरोपीय सामंतवाद के स्वरूप को देखते हुए हमें यही लगता है कि उसका राजनीतिक और प्रशासनिक ढांचा भूमि–अनुदानों के आधार पर गठित था और असली आर्थिक ढांचा कृषि–दोसत्व (सर्फडम) प्रथा के आधार पर। इस प्रथा के अधीन किसान भूमि से बंधे होते थे, और भूमि के मालिक वे जमींदार होते थे जो असली काश्तकारों और राजा के बीच की कड़ी का काम करते थे। किसान जमीन जोतने के बदले सामंतों को उपज और बेठ–बेगार के रूप में लगान अदा करते थे। इस प्रणाली का आधार आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी, जिसमें वस्तुओं का उत्पादन बाजार में बेचने के लिए नहीं, बल्कि मुख्यत स्थानीय किसानों और उनके मालिकों के उपयोग के लिए होता था।[3]

भारत में राजनीतिक सामंतवाद के उद्‌भव और विकास का चिन्ह पहली शताब्दी से मिलना प्रारंभ हो जाता है, जो ब्राह्मणों को दिये जाने वाले भूमि–अनुदानों से जुड़ा है। गुप्तकाल में ऐसे अनुदानों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होती है, गुप्तोत्तर काल में भी वृद्धि होती चली जाती हैं एवं हर्ष के शासन–काल में नालंदा मठ के पास 200 गांव थे। मंदिरों तथा पंडित–पुरोहितों को पालों और प्रतीहारों से बहुत–से गाँव मिले, लेकिन राष्ट्रकूटों से प्राप्त गांवों की संख्या की तुलना में कम ही थे। राष्ट्रकूट राज्य के एक अनुदान पत्र में 1400 और एक दूसरे में 400 गांव दान देने के उल्लेख हैं स्पष्ट है कि ब्राह्मणों और मंदिरों को भू–राजस्व इहलौकिक सेवाओं के प्रतिदान– स्वरूप नहीं, बल्कि दाता का परलोक सुधारने के लिए दिया जाता था। जो क्षेत्र उनको दान किए जाते थे उनमें उन्हें राजस्व–विषयक व्यापक अधिकार दिये जाते थे और साथ ही शान्ति–सुव्यवस्था कायम रखने और अपराधियों से जुर्माना वसूल करने जैसे प्रशासनिक अधिकार भी। ह्वेनसांग के अनुसार राज्य के बड़े–बड़े अभिलेखों से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती है।[4]

* शोधार्थी, UGC- NET, JRF इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सामंतों के लिए कई संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता था। भूपाल, भोक्ता, भोगी, भौगिक, योगिजन, भोगपतिक, भोगिरूप, महाभोगी, वृहद्भोगी, वृहद् भोगिक, राजा, राज्ञ, राजराजनक, राजन्यक, राणक, राजपुत्र, राजवल्लभ, ठक्कुर, सामंत, महासामंत, महासामंताधिपति, महासामंत–राणक, सामंतक राजा, मांडलिक और महामंडलेश्वर आदि संज्ञाए से 'सामंतों' को संबोधित किया जाता था।[5] अभिलेखों में महासामंतों, राणकों, राजपुत्रों मांडलिकों तथा कुछ अन्य सामंतों को भूमि–अनुदान दिए जाने का उल्लेख मिलता है। लेकिन जान पड़ता है कि दूसरे सामंतों को भी ऐसे अनुदान दिये जाते थे। इनमें से बड़े–बड़े सामंतों को पंचमहावाद्यों के प्रयोग का भी अधिकार दिया जाता था।

डी॰ डी॰ कोसंबी ने भारतीय सामंतवाद के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए दो भागों में विभाजित किया है– (1) ऊपर से सामंतवाद और (2) नीचे से सामंतवाद। ऊपर से सामंतवाद का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है। जिसमें सम्राट या शक्तिशाली राजा अपने मातहतों से भेंट उगाहता है और ये मातहत अपने–अपने अधिकार क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार तब तक शासन किया करते थे, जबतक वे अपनी ओर से सर्वोच्च शासक को भेंट अदायगी करते रहें। ये मातहत शासक जनजातीय नायक या मुखिया भी हो सकते थे और आमतौर पर बिना किसी मध्यस्थ भू–स्वामी वर्ग के हस्तक्षेप के प्रत्यक्ष रूप से उस भूखंड पर शासन किया करते थे।

नीचे से सामंतवाद का तात्पर्य, इस विकास–क्रम के अगले चरण से है। जिसमें गांव के अंदर राजसत्ता और किसानों के बीच भू–स्वामियों का एक विशिष्ट वर्ग विकसित हुआ, जो धीरे–धीरे सशस्त्र शक्ति द्वारा स्थानीय जनता पर नियंत्रण रखने लगा। यह वर्ग राज्य के सैनिक सेवा से संलग्न था, इसलिए यह अन्य किसी तबके के हस्तक्षेप या मध्यस्थता के बगैर ही राजसत्ता से प्रत्यक्ष संबंध बनाए रखने का दावा करता था। ऊपर से संचालित सामंती व्यवस्था में राजकीय अधिकारियों द्वारा करों के प्रत्यक्ष संग्रहण से भिन्न नीचे से संचालित सामंतवाद में छोटे–छोटे मध्यस्थों द्वारा कर संग्रह किया जाता था, यही मध्यस्थ इस कर का कुछ अंश अपने ऊपर के सामंती क्रम परंपरा को भेंट के रूप में पहुंचाया करता था। दोनों ही स्थितियों में आदिम खाद्य संग्राहक जनजातीय पद्धतियों से लेकर सभी पूर्ववर्ती प्रणालियों के अवशेष समाज के अंदर किसी न किसी तरह, चाहे स्थानीय स्वरूप में हो या अपने विशिष्ट स्वरूप में, वे बचे ही रहे। इन दोनों चरणों के बीच मौलिक अंतर ग्रामीण समुदायों की संख्या में भारी वृद्धि से संबंधित था। अब ऐसे एक वर्ग की आवश्यकता थी जो व्यापारिकयों को निरंतर ग्राहक मुहैया करा सके और अपने पास पर्याप्त अधिशेष का संग्रह कर सके। निश्चत ही इसका अर्थ व्यापारियों की संख्या में वृद्धि भी रही होगी। विभिन्न समयों में आक्रांताओं द्वारा बसे हुए इलाकों पर जीत हासिल करने और जीती गई जमीन पर अपने सैनिकों को उप–सामंती अधिकार प्रदान करने से द्वितीय चरण के आगमन की प्रक्रिया तीव्र हो गई।[6]

भारतीय सामंतवाद के स्वरूप और उसकी उपायुक्तता पर पहली बार विस्तार से चर्चा का प्रो॰ रामशरण शर्मा करते हैं। वे यूरोपीय पद्धति के आधार पर भारतीय संदर्भ में सामंतवाद पर चर्चा करते हुए भूमि अनुदान के फलस्वरूप निर्मित अर्थतंत्र की विशिष्टताओं का उल्लेख करते हैं। वे लिखिते हैं ''प्रारंभिक भारतीय सामंतवाद की एक विशेषता यह थी कि राजस्व दृष्टि से राज्य को अनेक इकाइयों में विभक्त कर दिया जाता था। ये इकाइयां दाशमिक, द्वादशमिक अथवा षष्ठदशमिक प्रणाली पर गठित होती थीं। दशामिक प्रणाली पर गठित इकाई में आने वाले गांवों की संख्या 10 अथवा ऐसी कोई भी संख्या होती थी जो 10 से विभाज्य हो। यही बात द्वादशमिक तथा षष्ठदशमिक प्रणाली पर गठित इकाइयों पर भी लागू होती थी।[8]

मनु–स्मृति में (जो पहली या दूसरी शताब्दी में किसी समय लिय गया) कहा गया है कि दस गांवों की इकाइयों अथवा दाशमिक प्रणाली पर गठित बड़ी इकाइयों में राजस्व एकत्रा करनेवाले अधिकारियों को वृति–स्वरूप भूमि अनुदान देने चाहिए। ऐसी इकाइयां राष्ट्रकूटों और किसी हद तक पालों के राज्यों में भी कायम रहीं। लेकिन गुर्जर–प्रतीहारों तथा उनके सामन्तों और उत्तराधिकारियों, चाहमानों, परमारों और चौलुक्यों के राज्यों के द्वादशमिक या षष्ठदशमिक इकाइयों का चलन था। ऐसी इकाइयां शासक–परिवार के लोगों को निजी जागीरों के तौर पर दी गई, लेकिन शेष शायद राजस्व एकत्र करने के लिए गठित की गयी थी और ये ऐसे राज्याधिकारों के हाथों में रहती थीं, जिन्हें वृति–स्वरूप भूमि– अनुदान दिये जाते थे। स्पष्ट है कि राजपूतों ने अपने विजित क्षेत्रों को इस तरह की इकाइयों में बांट दिया था।[9]

सामंतवाद का मुख्य कारक भूमि, उत्पादन एवं कर एवं किसान (कृषक) हैं ये तीन अवयव किसी भी राज्य या समुदाय के विकास में सहायक होते हैं। तो 'सामंतवाद' एक राज्य का रूप था? इस प्रश्न का उत्तर के लिए शोध की आवश्यकता है। क्योंकि सामंतवादी अवधारणा का विकास 19वीं शदी से माना जाता है, जो इतिहास–लेखन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भारतीय शासन प्रणाली में गुप्तकाल के पूर्व एवं बाद के काल में

शासन की विशेषता के रूप में सामंतवाद जरूर उभरता है। मार्क्स सभी कहते हैं कि सामंतवाद 'विभिन्न पहलू अपनाता है और विभिन्न शृंखलाओं में विभिन्न मंजिलों से होकर गुजरता है। भारतीय सामंतवाद में विविधताएं यहां के शासन–प्रणाली के अनुसार देखा जा सकता है। सामन्तवाद को उत्पादन के साधनों की वितरण पद्धति के रूप में देखा जाना चाहिए और साथ ही अधिशेष पर अधिकार करने की पद्धति के रूप में भी। इसमें कुछ सार्वत्रिक विशेषताएं होती हैं तथा कुछ स्थान–विशेष संबंधी। स्पष्ट है कि भूमि और कृषि उत्पादन प्राक् पूंजीवादी समाजों में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। लेकिन साथ ही भूमि वितरण एवं कृषि उत्पादों पर अधिकार स्थापित करने के तरीके विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार बदलते रहते हैं।[10]

मध्यकालीन यूरोप में सामंतवाद स्वतंत्र आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों के उदय के कारण हुआ। भूमि–अनुदानों और कुछ अन्य कारणों से भारत में भी ऐसी इकाइयों का उदय हुआ। ग्रहीताओं को तरह–तरह के आर्थिक अधिकार होते थे, जिनके परिणामस्वरूप दान किए गए क्षेत्रों और केन्द्रीय सत्ता के बीच के सभी आर्थिक बंधन खंडित हो गए। अपनी अर्थ–व्यवस्था को कायम रखने और विकसित करने के लिए वे केन्द्रीय सरकार के अमलों की अपेक्षा स्थानीय कारीगरों और काश्तकारों पर अधिक निर्भर रहते थे। ग्रहीता लोग तमाम स्थानीय करों के हकदार थे और इन करों से प्राप्त राशि का कुछ अंश वे अवश्य ही स्थानीय कार्यों में लगाते होंगे। किसानों को वे जो खेत जोतते थे, उनसे बांध कर रखने का मुख्य उद्देयश्य यह था कि गांव की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था अक्षुण्य रहे।[11]

आत्मनिर्भर –व्यवस्थाओं के विकास से हम देखते हैं कि गुप्तकाल से आम चलन की मुद्राएं बहुत कम संख्या में मिलती हैं। आम चलन की मुद्राओं की कमी से पता चलता है कि आन्तरिक व्यापार घट रहा था और स्थानीय आवश्कताएं बढ़ रही थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि केन्द्रीय सत्ता कमजोर होती जा रही थी और धीरे–धीरे अपने कर्मचारियों को नकद वेतन न देकर जिन्सों के रूप में वेतन देने अथवा राजस्व का कुछ हिस्सा उनको सौंप देने का तरीका अपना रहा था।[12]

ह्वेनसांग कहता है ''चूंकि सरकार हितकारी सिद्धान्तों आधारित है, इसलिए कार्यपालिका सरल रखी गयी है। परिवारों को बही खातों में दर्ज नहीं किया जाता और लोगों को जबरन श्रम करने पर मजबूर नहीं किया जाता है। राजा के निजी भूखंड को चार प्रमुख भागों में बांट दिया जाता है। पहला भाग राजकीय दायित्वों के निर्वाह और अनुष्ठानों के लिए होता है। दूसरा राज्य के मंत्रियों और प्रमुख अधिकारियों की आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए है। तीसरा भाग विशिष्ट प्रतिभा वाले व्यक्तियों को पुरस्कृत करने के लिए और चौथा भाग धार्मिक संस्थाओं को दान देने के लिए होता है, जिससे पुण्य का क्षेत्र पल्लवित होता है। इस प्रकार से लोगों पर कर का बोझ कम है, और उनसे निजी सेवा प्रदान करने की अपेक्षा भी न्यूनतम ही होती हैं सब शान्तिपूर्ण जीवन– यापन करते हैं। वे उत्पादन का छठा भाग कर के रूप में अदा करते हैं। व्यापारी अपने व्यावसायिक लेन–देन के लिए (स्वतंत्र रूप से) आते–आते रहते हैं। जल–मार्ग और सड़क मार्ग हलकें करों के बदले खोल दिये जाते हैं। जब सार्वजनिक कार्य के लिए श्रम की जरूरत होती है तो लोगों से श्रम लिया जाता है। परन्तु उनका पारिश्रमिक भी उन्हें दिया जाता है। पारिश्रमिक की दर किए गए कार्य के बिलकुल समतुल्य होती है। सैनिक सीमाओं की रक्षा करते हैं या दुर्जेय बागियों को दंडित करने चले जाते हैं। सेवा की जरूरतों के अनुरूप ही सैनिकों की भर्ती की जाती है। उनको कुछ निर्धारित वेतन देकर खुले–आम उनकी भर्ती की जाती है। राज्यपालों मंत्रियों, दंडनायकों और अधिकारियों आदि सभी को भूमि का एक भाग दिया जाता है जो उनके निजी भरण–पोषण के लिए होता है। खेती करने वालों का कर्तव्य होता है कि वे मौसम अनुरूप फसल बोएं और उगाएं, हल चलाएं, हेंगा चलाकर खरपतवार साफ करें और खेती करें अक्सर व्यावसायिक लेन–देन में वस्तु विनियम का सहारा लेते हैं, क्योंकि उनके पास सोने या चांदी के सिक्के नहीं हैं।

इस प्रकार देखते हैं कि भूमि को अनुदान के रूप में बांटा जा रहा था। जिससे समाज में भूमि का वितरण असमान हो गया। जिसका प्रभाव समाज में बुरा पड़ा। ईस्वी सन् की प्रारंभिक सदियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक भूमिस्वत्व पर प्रकाश डालने वाले धर्मशास्त्रों में जो सामग्री मिलती है, उनमें सामुदायिक अधिकारों का हल्का–सा आभास–मात्र है। किन्तु राजकीय और वैयक्तिक अधिकारों को भी उसमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक समर्थन दिया गया है। यद्यपि ये दोनों प्रकार के अधिकार परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं।

वैयक्तिक भूस्वामित्व के सिद्धांत के कारण अनुदान भोगी किसानों के हाथ पट्टे पर अपनी जमीन लगा सके और राजकीय भू–स्वामित्व सिद्धान्त के कारण राजा लोग पुरोहितों और मंदिरों, सामंतों और राज्याधिकारियों की सेवा के बदले अनुदान भूमि दे सके। अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि भूमि सिर्फ धार्मिक अनुदानों के उद्देश्य से बेची जा सकती है और पूर्व मध्यकाल में मुद्रा के अभाव के कारण कम से कम 1000 ईस्वी तक बड़े पैमाने पर जमीन की खरीद बिक्री नहीं हो सकती थी। फिर भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धांत के कारण शासकों को

किसानों पर तरह–तरह के कर लगाने का वैधानिक आधार मिल गया। दोनों सिद्धांतों ने सामुदायिक भू–स्वत्वों को पंगु बना दिया और ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिसमें अनुदान भोगी तथा बड़े–बड़े भूमिपति विस्तृतगोचर भूमि तथा उसी प्रकार की अन्य सामुदायिक भूमि को आसानी से अपनी निजी संपत्ति बना सकते थे। फलतः साधारण किसान या तो कृषि दासों की अवस्था में पहुंच गए या नए भूमिपतियों के असहाय–निरुपाय आश्रित बनकर रह गए।[13]

भारतीय सामंतवाद में भूमि के असमान वितरण, भू–स्वामित्व के अधिकार एवं करों के बोझ से किसानों की स्थिति अर्ध दासत्व का हो गया। जिसका कारण राज्य द्वारा बिचौलियों को अनुदान रूप में अधिक–से–अधिक अधिकार प्रदान करना था, जिनके ऊपर किसान निर्भर होते गए। यह निर्भरता किसानों पर एक से दूसरी जगह पर जाने पर लगी पाबंदियों और बेगार के लिए बढ़ते हुए उत्पीड़न के रूप में दिखाई देता है।[14] परन्तु ह्वेनसांग के वितरण से तालमेल नहीं खाता है।

भारत में बेगार का साक्ष्य इतिहास में तो मिलते हैं। लेकिन इसकी प्रकृति बुनियादी तौर पर यूरोप के बेगार से भिन्न थी, क्योंकि भारत में इसका इस्तेमाल उत्पादन के कामों में शायद ही कभी होता था। भारत में भू दासत्व नहीं होने के वस्तुगत कारण रहे हैं, क्योंकि भारत में उत्पादन की परिस्थितियों ऐसी रही हैं कि उसमें भू–दास के श्रम की जरूरत नहीं रही। भारत में बेगार–प्रथा कमोबेश रही है जरूर, लेकिन उत्पादन–प्रक्रिया के अंग के रूप में नहीं, मिलती कि शासक वर्ग की राजनीतिक और प्रशासनिक सत्ता के प्रतिफल के रूप में।[15]

भारतीय सामंतवाद भारतीय शासन व्यवस्था के अंग के रूप में क्रियान्वित हो रही थी। इसके विकास एवं विस्तार में शासन प्रणाली के साथ–साथ बाहरी आक्रान्ताओं के सांस्कृतिक समन्वय का परिणाम था। भूमि अनुदान के कारण 'कृषि' का विकास एवं राजस्व की बढ़ोतरी प्रारंभिक सामंतवाद का रूप देख सकते हैं परन्तु उसके उपरान्त भूमि का प्रयोग वैयक्तिक तौर पर करने से सामन्तवाद का दूसरा प्रक्रम सामने आता है, तो निश्चित तौर पर राजस्व का ह्रास, व्यापार व वाणिज्य पर बुरा प्रभाव डालता है। जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का उदय होता है जिससे आन्तरिक व्यापार भी प्रभावित होता है। 'कर' का बोझ राजकीय और वैयक्तिक दोनों प्रकार का था, जिससे कृषक, कृषक अर्ध दास के रूप में परिणत होते हैं परन्तु भारत में दासता की स्थिति यूरोप के दासता की स्थिति से भिन्न है क्योंकि यहां सिर्फ राजकीय कार्यों के लिए ही दासता दिखायी देती है। सामंतवादी व्यवस्था में सिक्कों की कमी का अर्थ यह नहीं है कि सिक्कों को नहीं ढ़ाला गया बल्कि पूर्व प्रचलित सिक्के प्रचलन में प्रचलित रहे। 'सामंतवाद' के विकास से क्षेत्रीय असमानताएं या क्षेत्रीय सांस्कृतिक महत्वों की भी वृद्धि हुई। 'संस्कृत' का प्रचलन बढ़ गया। जिससे लोगों के मध्य सांस्कृतिक एकता का भाव जागृत हुआ। विज्ञान एवं कला का विकास के साथ साहित्यक विकास सामंतवादी राज्य की देन है।

संदर्भ :

1. मुखिया,हरबंस (सं॰)एम.एच.आई. 01 भाग 06 (प्रस्तावना)
2. वही
3. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993, 2015, पृ॰ 11
4. वही, पृ॰ 228
5. वही, पृ॰ 229
6. कोसंबी, डी॰ डी॰, भारतीय इतिहास के अध्ययन की भूमिका (हिन्दी अनुवादक रश्मि चौधरी, प्रदीप चौधरी), ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2017, पृ॰ 352
7. कुमार, अशोक, इतिहास समग्र, जानकी प्रकाशन, पटना, 2001, पृ॰ 101
8. शर्मा, रामशरण, पूर्वोक्त, पृ॰ 229
9. वही
10. शर्मा, रामशरण, भारतीय इतिहास एक पुनर्विचार हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2011, पृ॰ 242
11. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1991, 2015, पृ॰ 54
12. वही, पृ॰ 55
13. वही
14. वही, पृ॰ 133
15. कुमार, अशोक, पूर्वोक्त, पृ॰ 102
16. वही, पृ॰ 103

नई शिक्षा नीति 2020 और भारतीय समाजः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. मुन्ना सिंह*

सारांश (Abstract)

नई शिक्षा नीति 2020 (National Education Policy - NEP 2020) भारत की शिक्षा प्रणाली में व्यापक सुधार लाने हेतु लागू की गई एक महत्वपूर्ण नीति है। यह नीति शिक्षा को समावेशी, बहुविषयक, तकनीकी एवं रोजगारपरक बनाने पर बल देती है। प्रस्तुत शोध लेख का उद्देश्य नई शिक्षा नीति के भारतीय समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना है।

अध्ययन में सामाजिक समानता, डिजिटल शिक्षा, महिला सशक्तिकरण, ग्रामीण विकास तथा कौशल आधारित शिक्षा जैसे पहलुओं पर चर्चा की गई है। शोध में गुणात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है तथा द्वितीयक स्रोतों जैसे सरकारी रिपोर्ट, शोध पत्र, पुस्तकें एवं जर्नल का सहारा लिया गया है।

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि नई शिक्षा नीति सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकता को बढ़ावा देती है, लेकिन डिजिटल असमानता, संसाधनों की कमी और क्रियान्वयन संबंधी समस्याएँ इसकी प्रमुख चुनौतियाँ हैं।

मुख्य शब्द (Keywords): नई शिक्षा नीति, समाजशास्त्र, सामाजिक परिवर्तन, डिजिटल शिक्षा, महिला सशक्तिकरण, कौशल विकास

1. प्रस्तावना (Introduction)

शिक्षा समाज के विकास और परिवर्तन का आधार मानी जाती है। यह व्यक्ति के बौद्धिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था में समय-समय पर सुधार किए गए हैं ताकि बदलते सामाजिक और आर्थिक परिवेश के अनुरूप शिक्षा को अधिक प्रभावी बनाया जा सके।

इसी संदर्भ में भारत सरकार ने वर्ष 2020 में नई शिक्षा नीति (NEP 2020) लागू की। यह नीति 1986 की शिक्षा नीति का स्थान लेती है और 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा को पुनर्गठित करने का प्रयास करती है।

नई शिक्षा नीति का उद्देश्य शिक्षा को समावेशी, गुणवत्तापूर्ण, तकनीकी एवं रोजगारपरक बनाना है। यह नीति विद्यार्थियों के समग्र विकास, रचनात्मकता, आलोचनात्मक चिंतन तथा कौशल विकास पर बल देती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से शिक्षा केवल ज्ञान अर्जन का माध्यम नहीं है, बल्कि यह सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक हस्तांतरण का भी प्रमुख साधन है। इसलिए नई शिक्षा नीति का प्रभाव भारतीय समाज की संरचना और सामाजिक संबंधों पर पड़ना स्वाभाविक है।

2. नई शिक्षा नीति 2020 की प्रमुख विशेषताएँ

नई शिक्षा नीति 2020 में कई महत्वपूर्ण सुधार प्रस्तावित किए गए हैं:

1. **5+3+3+4 शिक्षा संरचना**
2. प्रारंभिक बाल शिक्षा पर विशेष ध्यान
3. मातृभाषा में शिक्षा को प्रोत्साहन
4. बहुविषयक शिक्षा प्रणाली
5. व्यावसायिक एवं कौशल आधारित शिक्षा
6. डिजिटल शिक्षा और तकनीकी समावेशन

* पूर्व शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

7. उच्च शिक्षा में सुधार
8. शोध और नवाचार को बढ़ावा
9. समान एवं समावेशी शिक्षा
10. शिक्षा में लचीलापन

इन सुधारों का उद्देश्य शिक्षा को अधिक व्यावहारिक और जीवनोपयोगी बनाना है।

3. नई शिक्षा नीति और सामाजिक परिवर्तन

समाजशास्त्र में शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख माध्यम माना गया है। नई शिक्षा नीति विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नवाचार और रचनात्मकता विकसित करने पर बल देती है।

यह नीति सामाजिक रूढ़ियों और पारंपरिक सीमाओं को तोड़ने में सहायक हो सकती है। कौशल आधारित शिक्षा युवाओं को रोजगारोन्मुख बनाएगी, जिससे सामाजिक गतिशीलता और आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलेगा।

एमिल दुर्खीम के अनुसार शिक्षा समाज में सामाजिक एकता और नैतिक मूल्यों का विकास करती है। नई शिक्षा नीति भी विद्यार्थियों में नैतिकता, संवैधानिक मूल्य और राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित करने का प्रयास करती है।

4. सामाजिक समानता और समावेशी शिक्षा

नई शिक्षा नीति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य शिक्षा में समान अवसर सुनिश्चित करना है। यह नीति अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े वर्ग, दिव्यांग एवं महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देती है।

नीति के अनुसार शिक्षा तक सभी वर्गों की पहुँच बढ़ाने का प्रयास किया जाएगा। इससे सामाजिक असमानता कम होने और शिक्षा के लोकतंत्रीकरण को बढ़ावा मिलने की संभावना है।

हालाँकि, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच संसाधनों की असमानता अभी भी एक बड़ी चुनौती है।

5. डिजिटल शिक्षा और समाज

कोविड-19 महामारी के बाद डिजिटल शिक्षा का महत्व बढ़ गया है। नई शिक्षा नीति डिजिटल तकनीक और ऑनलाइन शिक्षा को बढ़ावा देती है।

सकारात्मक प्रभाव:

- शिक्षा तक आसान पहुँच
- तकनीकी ज्ञान में वृद्धि
- ऑनलाइन शिक्षण के नए अवसर
- ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल जागरूकता

नकारात्मक प्रभाव:

- डिजिटल विभाजन
- इंटरनेट की कमी
- आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की समस्याएँ
- तकनीकी संसाधनों का अभाव

ग्रामीण क्षेत्रों में इंटरनेट और डिजिटल उपकरणों की कमी के कारण डिजिटल शिक्षा का लाभ सभी तक समान रूप से नहीं पहुँच पा रहा है।

6. महिला सशक्तिकरण और नई शिक्षा नीति

नई शिक्षा नीति महिलाओं और बालिकाओं की शिक्षा को विशेष महत्व देती है।

प्रभाव:

- महिला शिक्षा दर में वृद्धि
- लैंगिक समानता को बढ़ावा
- सामाजिक जागरूकता में वृद्धि
- बाल विवाह और लैंगिक भेदभाव में कमी

शिक्षा महिलाओं को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाने का माध्यम है। नई शिक्षा नीति महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक स्थिति सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

7. ग्रामीण समाज पर प्रभाव : नई शिक्षा नीति ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने का प्रयास करती है।

प्रमुख प्रभाव:

- डिजिटल जागरूकता में वृद्धि
- कौशल विकास के अवसर
- शिक्षा का प्रसार
- रोजगारोन्मुख शिक्षा

यदि ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त संसाधन उपलब्ध कराए जाएँ, तो यह नीति ग्रामीण विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

8. चुनौतियाँ : नई शिक्षा नीति के प्रभावी क्रियान्वयन में कई चुनौतियाँ मौजूद हैं:

1. डिजिटल असमानता
2. प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी
3. ग्रामीण क्षेत्रों में अवसंरचना का अभाव
4. आर्थिक संसाधनों की कमी
5. भाषाई विवाद
6. तकनीकी प्रशिक्षण की कमी

इन समस्याओं का समाधान किए बिना नीति के उद्देश्यों को पूरी तरह प्राप्त करना कठिन होगा।

9. निष्कर्ष (Conclusion)

नई शिक्षा नीति 2020 भारतीय शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तनकारी भूमिका निभाने की क्षमता रखती है। यह नीति शिक्षा को अधिक समावेशी, आधुनिक और कौशल आधारित बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह नीति सामाजिक समानता, महिला सशक्तिकरण, कौशल विकास और सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देती है।

हालाँकि, डिजिटल विभाजन और संसाधनों की कमी जैसी चुनौतियाँ इसके प्रभावी क्रियान्वयन में बाधा उत्पन्न करती हैं। यदि सरकार और समाज मिलकर इन चुनौतियों का समाधान करें, तो नई शिक्षा नीति भारतीय समाज के समग्र विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

10. सुझाव (Suggestions)

1. ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल सुविधाएँ बढ़ाई जाएँ।
2. शिक्षकों को तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाए।
3. गरीब विद्यार्थियों को डिजिटल उपकरण उपलब्ध कराए जाएँ।
4. कौशल आधारित शिक्षा को स्थानीय रोजगार से जोड़ा जाए।
5. महिला शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन दिया जाए।
6. नीति के क्रियान्वयन की नियमित निगरानी की जाए।

संदर्भ सूची (References)

1. **भारत सरकार।** (2020). *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020*। नई दिल्ली: शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार।
   ➤ यह दस्तावेज नई शिक्षा नीति की मूल रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जिसमें शिक्षा सुधार, बहुविषयक अध्ययन, डिजिटल शिक्षा एवं समावेशी शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है।
2. **अहूजा, राम।** (2019). *भारतीय समाज*। जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।
   ➤ भारतीय सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन, जाति, वर्ग एवं शिक्षा व्यवस्था के समाजशास्त्रीय विश्लेषण हेतु महत्वपूर्ण पुस्तक।
3. **दुर्खीम, एमिल।** (2006). *Education and Sociology*। न्यू York: Dover Publications।
   ➤ शिक्षा और समाज के संबंधों पर आधारित प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय ग्रंथ, जिसमें शिक्षा को सामाजिक एकता का माध्यम बताया गया है।
4. **सेन, अमर्त्य।** (1999). *Development as Freedom*। ऑक्सफोर्ड: Oxford University Press।
   ➤ शिक्षा को मानव विकास एवं सामाजिक स्वतंत्रता के महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है।
5. **शर्मा, आर.एन.** (2018). *भारतीय शिक्षा और समाज*। नई दिल्ली: Atlantic Publishers।
   ➤ भारतीय शिक्षा व्यवस्था और सामाजिक विकास के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण।
6. **सिंह, योगेन्द्र।** (2011). *भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण*। नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन्स।
   ➤ आधुनिकता और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए उपयोगी ग्रंथ।
7. **फ्रेरे, पाउलो।** (2005). *Pedagogy of the Oppressed*। न्यू York: Continuum Publications।
   ➤ शिक्षा को सामाजिक चेतना और मुक्ति के साधन के रूप में प्रस्तुत करने वाला महत्वपूर्ण ग्रंथ।
8. **गिडेन्स, एंथनी।** (2017). *समाजशास्त्र*। नई दिल्ली: Polity Press (हिंदी संस्करण)।
   ➤ आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों और शिक्षा की भूमिका को समझने हेतु उपयोगी पुस्तक।
9. **यूनेस्को।** (2021). *Education for Sustainable Development Report*। पेरिस: UNESCO Publishing।
   ➤ सतत विकास और शिक्षा के वैश्विक दृष्टिकोण पर आधारित रिपोर्ट।
10. **योजना पत्रिका।** (2021). *नई शिक्षा नीति विशेषांक*। नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग, भारत सरकार।
    ➤ नई शिक्षा नीति के विभिन्न आयामों पर विशेषज्ञ लेखों का संकलन।
11. **कुरुक्षेत्र पत्रिका।** (2022). *ग्रामीण शिक्षा और डिजिटल भारत विशेषांक*। नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग।
    ➤ ग्रामीण शिक्षा, डिजिटल विभाजन एवं सामाजिक विकास पर उपयोगी सामग्री।
12. **NCERT।** (2021). *School Education in India: Present Status and Challenges*। नई दिल्ली: NCERT।
    ➤ भारतीय विद्यालयी शिक्षा की वर्तमान स्थिति और चुनौतियों का विश्लेषण।
13. **Tilak,J.B.G.**(2015).*Education in India:Policy, Issues and Development*।नई दिल्ली:Sage Publications।
    ➤ भारतीय शिक्षा नीति और उसके सामाजिक प्रभावों का अध्ययन।
14. **Kumar, Krishna.** (2004). *What is Worth Teaching?*। नई दिल्ली: Orient Blackswan।
    ➤ शिक्षा के उद्देश्यों और पाठ्यक्रम निर्माण पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण।
15. **Nanda, V. K.** (2017). *Education and Social Change in India*। नई दिल्ली: Anmol Publications।
    ➤ शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के मध्य संबंधों पर आधारित पुस्तक।

शोध पत्र एवं जर्नल संदर्भ

16. Kumar, A. (2021). “Impact of National Education Policy 2020 on Higher Education.” *Journal of Education and Practice*, 12(5), 45-52.
17. Sharma, P. & Verma, S. (2022). “Digital Education and Social Inequality in India.” *Indian Journal of Social Research*, 63(2), 120-134.
18. Singh, R. (2021). “Women Empowerment through Education Policy in India.” *International Journal of Sociology and Education*, 8(1), 77-89.
19. Gupta, M. (2020). “Inclusive Education under NEP 2020.” *University News Journal*, 58(40), 15-22.
20. Das, S. (2022). “Skill Development and Youth Empowerment in NEP 2020.” *Research Journal of Social Sciences*, 14(3), 98-110.

हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन और हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ. पिन्टू यादव*

साहित्य का इतिहास-लेखक ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में लिखने वाले इतिहासकारों की भाँति ही एक इतिहासकार होता है। अन्तर है तो केवल इतना कि साहित्य का इतिहास-लेखक साहित्यिक कृतियों के माध्यम से उपलब्ध मानव जीवन के इतिहास को अपना मूलभूत लक्ष्य मानता है, जबकि और क्षेत्रों के इतिहासकार अपनी विशेष विषय परिधि जैसे चित्रकला, मूर्तिकला, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र इत्यादि में अभिव्यक्त मानव जीवन के विकास को अपना आधार बनाते हैं। यही कारण है कि साहित्य का इतिहास लेखक भी अन्य इतिहासकारों की भांति पहले इतिहासकार है और बाद में साहित्य का आलोचक, भाषाविद् अथवा पाठालोचक। वैसे साहित्य के इतिहास के बारे में मैनेजर पाण्डेय का कहना है कि "साहित्य के इतिहास का आधार है, साहित्य के विकासशील स्वरूप की अवधारणा। साहित्य की निरंतरता और विकासशीलता में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास लेखन असंभव है।"[1] आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन से पूर्व अनेक इतिहास लिखे गये परन्तु कोई इतिहास कविवृत्त के रूप में था कोई प्रवृत्ति एवं कालक्रम के रूप में था। आचार्य शुक्ल एक विधेयवादी आलोचक हैं तथा उनकी इतिहास दृष्टि भी लोक जगत की उपज है अतः आचार्य शुक्ल ने इतिहास को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब माना। आचार्य द्विवेदी ने लोक को परम्परा एवं इतिहास से जोड़कर देखा और हिन्दी साहित्य उद्भव विकास पुस्तक लिखी जिसमें वे लोक इतिहास, संस्कृति, परम्परा आदि को लेकर आगे बढ़े।

वस्तुतः साहित्य का इतिहास- जैविकीय इतिहास से भिन्न इतिहास है। 19वीं शताब्दी के पहले साहित्य का इतिहास भी हो सकता है, नहीं सोचा जा सकता था और उससे भी ज्यादा इसके दर्शन के प्रति वैज्ञानिक विकास के साथ साहित्यिक अध्ययन में विज्ञान की परिमाण मूलक प्रणालियों को भी समाहित करने की कोशिश की गयी। अब तक आँकड़ों के आधार पर साहित्यिक अध्ययन को शास्त्रीय ही रहने दिया गया था। इस प्रकार के भी विद्वान हुए जो साहित्य के विकास के सन्दर्भ में प्राणिशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रयोग कर रहे थे। "जैविकीय इतिहास से भिन्न भी साहित्य का इतिहास हो सकता है। उनका विचार है साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास ही हो सकता है। इस पर सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गूँथी आलोचनाओं को स्वयं ग्रहण करता है।"[2] इस कथन में यह भाव है कि साहित्य का इतिहास पूर्णतः इतिहास नहीं है किन्तु फिर भी साहित्य के इतिहास का इतिहास होना सम्भव है। साहित्य में रचनात्मकता और मनुष्य की रचनाधर्मिता और अनुभव तथा चेतना का गुणात्मक विकास होता है। अतः वह मात्र घटनात्मक और तथ्यात्मक नहीं हो सकता। साहित्येतिहास मानव की सर्जन शक्ति और क्षमता के इतिहास के साथ विकास है जो युग के सन्दर्भ में युगीन क्रिया को नयी शक्ति और विकास देता है। साहित्येतिहास में इतिहासकार की आन्वीक्षिकी शक्ति की अपेक्षा और समस्त शिक्षा अनुशासनों के बोध के साथ रचनात्मक दृष्टि होनी चाहिये। इतिहास विरोधी विचारधारा का विरोध व्यक्त करते हुए नलिन विलोचन शर्मा का कथन है, "विद्वानों के मत का निष्कर्ष है कि साहित्यिक इतिहास सही अर्थ में इतिहास है ही नहीं क्योंकि यह वर्तमान का सार्वभौम एवं शाश्वत ज्ञान है। यह ठीक भी है कि राजनीतिक इतिहास और कला के इतिहास में थोड़ा वास्तविक अन्तर है, जो ऐतिहासिक है और अतीत है तथा जो ऐतिहासिक होने के उपरान्त किसी न किसी रूप में वर्तमान है। उनमें भेद तो है ही यहाँ

* पी–एच.डी., हिंदी विभाग, एम.एस. यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, गुजरात

अन्तर है कहकर शर्मा जी ने साहित्येतिहास को इनकार नहीं किया वरन् उसकी ऐतिहासिक विशिष्टता ही स्थापित की है।"[3]

साहित्येतिहास दर्शन साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित सैद्धान्तिक तथा विश्लेषणात्मक चिन्तन है। यदि इतिहास दर्शन अनेकरूपी मानवेतिहास एवं मानव संस्कृति के मूलभूत सत्य, उसके विकास, उसके लक्ष्य तथा उसके रचनाविधान लेखन का दर्शनशास्त्र साहित्यिक इतिहास के मूलस्वरूप, उसकी प्रेरक शक्तियों, उसकी विकास प्रक्रिया, उसकी गतिशीलता सम्बन्धी सामान्य दार्शनिक चिन्तन है। भारतीय भाषाओं में आगे चलकर जिस साहित्य का विकास हुआ उस पर जिन दो प्राचीन ग्रन्थों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा, वे रामायण और महाभारत हैं। इन दो महाकाव्यों के बिना भारतीय साहित्य की स्थिति क्या होती, इसकी कल्पना करना कठिन है। वैदिक काव्य की परम्परा वेदों के साथ ही समाप्त हो गयी। आधुनिक भाषाओं के काव्य-विकास पर उस परम्परा का प्रभाव नगण्य है किन्तु उन दोनों महाकाव्यों का प्रभाव निरन्तर गहरा होता गया है।"[4]

यह साहित्य के इतिहास की कारणता (काजेलिटी) एवं क्रय को जानने का परिकल्पनात्मक एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान है। इसकी सार्थकता विज्ञानसम्मत ऐतिहासिक विधि द्वारा साहित्येतिहास की दिशा को कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करते हुए स्पष्ट करने में है। "जिस भाषा के माध्यम से साहित्यिक कृतियाँ अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं, उस भाषा का स्वयं अपना इतिहास साहित्य के इतिहास के साथ जुड़ा होता है, अतः जब तक भाषा और उसके इतिहास का ज्ञान न मिल जाए, साहित्य का इतिहास-लेखन अपना ठोस आधार नहीं बना सकता।"[5] साहित्य के इतिहास से तात्पर्य देश-काल के आयाम में विकसित साहित्य की समग्रता से भी है तथा भाषा द्वारा इसके व्याख्यात्मक विवरण से भी है। साहित्येतिहासदर्शन उसके दोनों पक्षों पर विचार करता है। इसलिये इसके भी दो प्रमुख पक्ष हैं- (1) सैद्धान्तिक, (2) व्यवहारिक।

साहित्य के इतिहास लेखन के लिये कई प्रकार के तथ्यों की आवश्यकता होती है। उन्हें सुविधा के लिये निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है- (1) साहित्यिक (2) ऐतिहासिक (3) समाजशास्त्रीय (4) सांस्कृतिक एवं दार्शनिक (5) आलोचना शास्त्रीय। यह ठीक ही है साहित्य के इतिहास के लिये साहित्यिक तथ्य ही प्राथमिक हैं जो साहित्यिक कृति के रूप में रूपायित हो चुके हैं। किन्तु अन्य तथ्यों का महत्व भी कम नहीं है क्योंकि वे इतिहास की व्याख्या के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय सामग्री के बिना साहित्य के इतिहास में कार्य कारण का सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है। साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादिकाल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं (हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)। इसी प्रकार दार्शनिक तथा आलोचनात्मक सामग्री कृतियों साहित्यिक आन्दोलनों तथा साहित्यिक युगों के मूल्यांकन के लिये परमावश्यक है। साहित्य के इतिहासकार का भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण भी तथ्यों के चुनाव पर प्रभाव डालता है। हिन्दी साहित्य के जो इतिहासकार अपभ्रंश को हिन्दी से अलग भाषा मानते हैं, उन्होंने अपभ्रंश साहित्य सम्बन्धी सामग्री को संक्षेप में हिन्दी साहित्य के इतिहास की पृष्ठभूमि के रूप में ही प्रस्तुत किया है क्योंकि उनके अनुसार "वह उससे भी अधिक भाषा है, जितनी कि आज की मालवी, मारवाड़ी और मैथिली।"[6] इसके विपरीत यदि शिवदान सिंह चौहान का मत लें तो हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री खड़ी बोली के साहित्य तक सीमित हो जाती है। वह लिखते हैं- "हमारी दृष्टि में हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल खड़ी बोली में रचा गया हिन्दी साहित्य ही परिगणित होना चाहिये, हिन्दी भाषा समूह की अन्य भाषाओं का साहित्य नहीं।"[7] "इस विषय पर डॉ० नामवर जी का मानना है कि "इतिहास का वह दृष्टिकोण लोगों के लिए अब अपरिचित नहीं रहा कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को दुहराया

जाये; प्रत्येक आवश्यकता के सम्मुख उसे प्रस्तुत करना ही प्रयत्न की नवीनता है। आज ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता है।"[8]

इसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी कतिपय प्राचीन धारणाओं के बावजूद हिन्दी के विरल व्यक्ति रहे हैं उनके साहित्य में आस्था का एक ऐसा लचीला और नग्न रूप मिलता है, जिसे आज की हमारी पीढ़ी के साहित्यकार भी समझना पसन्द करेंगे बशर्ते कि वे आस्था की तमाम सम्भावनाओं को परखे बिना ही आस्थाहीन होने का संकल्प ले चुके हों।

संदर्भ सूची :

1- साहित्य और इतिहास दृष्टि- मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, साहित्य का इतिहास क्या है, पृ० 4
2- साहित्य का इतिहास दर्शन- नलिन त्रिलोचन शर्मा, पृ० 1
3- वही, पृ० 36
4- परम्परा का मूल्यांकन - रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2009 (हिन्दी जाति के सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा),पृ०19-20
5- शान्तिनिकेतन से शिवालिक - शिवप्रसाद सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, पुनर्नवा, संस्करण : 2012, पृ० 71-72
6- हिन्दी काव्यधारा- राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1940, अवतरणिका, पृ० 4
7- हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष - शिवदान सिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, संस्करण 1961, पृ० 18
8- इतिहास और आलोचना- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, पांचवीं आवृत्ति, इतिहास का नया दृष्टिकोण, पृ० 134

रोहतास जिला के विविध आर्थिक विकास और उनके संबंध

डॉ. सविता सिंह*

सारांश (Abstract)

रोहतास जिला बिहार के प्रमुख जिलों में से एक है, जहाँ कृषि, उद्योग, व्यापार, पशुपालन तथा सेवा क्षेत्र आर्थिक विकास के मुख्य आधार हैं। जिले की अर्थव्यवस्था बहुआयामी स्वरूप रखती है और विभिन्न आर्थिक गतिविधियाँ एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़ी हुई हैं। इस शोध-पत्र में रोहतास जिले के विविध आर्थिक विकास क्षेत्रों तथा उनके पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कृषि, उद्योग, परिवहन, शिक्षा एवं ग्रामीण विकास योजनाएँ परस्पर सहयोगी भूमिका निभाती हैं और जिले के समग्र आर्थिक विकास को गति प्रदान करती हैं।

मुख्य शब्द : आर्थिक विकास, कृषि, उद्योग, व्यापार, रोहतास जिला, ग्रामीण विकास।

प्रस्तावना

आर्थिक विकास किसी क्षेत्र की प्रगति का प्रमुख सूचक होता है। रोहतास जिला बिहार के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित एक महत्वपूर्ण जिला है, जिसकी अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि आधारित है। यहाँ की उपजाऊ भूमि, सोन नदी की सिंचाई व्यवस्था, खनिज संसाधन तथा श्रम शक्ति आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देती हैं।

वर्तमान समय में आर्थिक विकास केवल कृषि उत्पादन तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि उद्योग, व्यापार, शिक्षा, परिवहन तथा सेवा क्षेत्र भी विकास के महत्वपूर्ण घटक बन चुके हैं। रोहतास जिले में इन सभी क्षेत्रों का विकास एक-दूसरे से संबंधित है। उदाहरण के लिए कृषि उत्पादन बढ़ने से व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है, जबकि सड़क एवं परिवहन व्यवस्था उद्योग और बाजार के विकास में सहायता करती है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. रोहतास जिले के विभिन्न आर्थिक विकास क्षेत्रों का अध्ययन करना।
2. कृषि, उद्योग, व्यापार एवं सेवा क्षेत्र के संबंधों को समझना।
3. आर्थिक विकास में विभिन्न क्षेत्रों की भूमिका का विश्लेषण करना।
4. जिले के समग्र विकास हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

अनुसंधान पद्धति

यह शोध-पत्र द्वितीयक आँकड़ों पर आधारित है। अध्ययन के लिए सरकारी रिपोर्ट, जनगणना आँकड़े, आर्थिक सर्वेक्षण, पुस्तकों तथा शोध-पत्रों का उपयोग किया गया है। वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति अपनाई गई है।

रोहतास जिला : आर्थिक परिचय

रोहतास जिला ऐतिहासिक एवं आर्थिक दृष्टि से बिहार का महत्वपूर्ण क्षेत्र है। सासाराम इसका मुख्यालय है। जिले में अधिकांश लोग कृषि कार्य से जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त पत्थर उद्योग, व्यापार, पशुपालन तथा श्रम आधारित गतिविधियाँ भी आय के स्रोत हैं।

---

* वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

रोहतास जिले के विविध आर्थिक विकास

1. कृषि विकास

कृषि रोहतास जिले की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। यहाँ धान, गेहूँ, मक्का, दलहन एवं तिलहन की खेती की जाती है।

कृषि विकास के प्रमुख तत्व

- उपजाऊ भूमि
- सोन नहर सिंचाई व्यवस्था
- कृषि मजदूरों की उपलब्धता
- आधुनिक कृषि उपकरणों का प्रयोग

कृषि का अन्य क्षेत्रों से संबंध

- कृषि उत्पादन से व्यापार को बढ़ावा मिलता है।
- खाद्य प्रसंस्करण उद्योगों का विकास होता है।
- परिवहन एवं बाजार व्यवस्था मजबूत होती है।

2. औद्योगिक विकास

रोहतास जिले में डेहरी-ऑन-सोन क्षेत्र औद्योगिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। पत्थर उद्योग तथा लघु उद्योग यहाँ की प्रमुख आर्थिक गतिविधियाँ हैं।

औद्योगिक विकास के क्षेत्र

- पत्थर उद्योग
- ईंट उद्योग
- खाद्य प्रसंस्करण उद्योग
- लघु एवं कुटीर उद्योग

उद्योग और कृषि का संबंध

- कृषि आधारित उद्योग किसानों को बाजार उपलब्ध कराते हैं।
- उद्योगों से रोजगार बढ़ता है, जिससे क्रय शक्ति में वृद्धि होती है।

3. व्यापार एवं वाणिज्य

रोहतास जिले में स्थानीय बाजारों तथा व्यापारिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण योगदान है। कृषि उत्पादों एवं पत्थर उद्योग से जुड़े व्यापार का विकास हुआ है।

व्यापार के प्रमुख केंद्र

- सासाराम
- डेहरी-ऑन-सोन
- बिक्रमगंज

व्यापार का संबंध

- कृषि उत्पादन बढ़ने से बाजार का विस्तार होता है।
- सड़क एवं परिवहन व्यवस्था व्यापार को गति देती है।

4. परिवहन एवं संचार विकास

सड़क, रेलवे एवं संचार सुविधाएँ आर्थिक विकास की आधारशिला हैं। ग्रैंड ट्रंक रोड तथा रेलवे नेटवर्क रोहतास जिले को अन्य क्षेत्रों से जोड़ते हैं।

महत्व

- व्यापार को बढ़ावा
- उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति
- कृषि उत्पादों का विपणन

5. शिक्षा एवं कौशल विकास

शिक्षा आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण आधार है। तकनीकी शिक्षा एवं कौशल प्रशिक्षण युवाओं को रोजगार के अवसर प्रदान करते हैं।

संबंध

- शिक्षित युवा उद्योग एवं सेवा क्षेत्र में रोजगार प्राप्त करते हैं।
- कौशल विकास से स्वरोजगार को बढ़ावा मिलता है।

6. सेवा क्षेत्र का विकास

बैंकिंग, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं पर्यटन सेवा क्षेत्र के प्रमुख भाग हैं।

पर्यटन का महत्व

रोहतासगढ़ किला तथा शेरशाह सूरी का मकबरा पर्यटन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

सेवा क्षेत्र का संबंध

- पर्यटन से होटल एवं व्यापार का विकास होता है।
- बैंकिंग सेवाएँ कृषि एवं उद्योग को वितीय सहायता प्रदान करती हैं।

आर्थिक विकास के पारस्परिक संबंध

आर्थिक क्षेत्र	संबंधित क्षेत्र	प्रभाव
कृषि	उद्योग	कच्चे माल की आपूर्ति
उद्योग	व्यापार	बाजार विस्तार
परिवहन	कृषि एवं व्यापार	उत्पादों का विपणन
शिक्षा	सेवा एवं उद्योग	रोजगार वृद्धि
बैंकिंग	कृषि एवं उद्योग	वितीय सहायता

आर्थिक विकास की समस्याएँ

1. बेरोजगारी एवं पलायन
2. औद्योगिक पिछड़ापन
3. सिंचाई एवं कृषि समस्याएँ
4. शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी
5. आधारभूत संरचना की कमजोरी

विकास हेतु सुझाव

1. कृषि आधुनिकीकरण को बढ़ावा दिया जाए।
2. लघु एवं कुटीर उद्योगों का विस्तार किया जाए।
3. युवाओं के लिए कौशल विकास कार्यक्रम चलाए जाएँ।
4. सड़क, बिजली एवं इंटरनेट सुविधाओं में सुधार किया जाए।
5. पर्यटन उद्योग को विकसित किया जाए।
6. महिला स्वयं सहायता समूहों (SHG) को प्रोत्साहित किया जाए।

निष्कर्ष

रोहतास जिले की अर्थव्यवस्था बहुआयामी है, जिसमें कृषि, उद्योग, व्यापार, परिवहन एवं सेवा क्षेत्र का महत्वपूर्ण योगदान है। ये सभी क्षेत्र एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं और सामूहिक रूप से जिले के आर्थिक विकास को प्रभावित करते हैं। यदि इन क्षेत्रों का संतुलित एवं योजनाबद्ध विकास किया जाए, तो रोहतास जिला आर्थिक रूप से अधिक समृद्ध एवं आत्मनिर्भर बन सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह, आर. बी. (2018). *बिहार का आर्थिक भूगोल.* पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी।
2. शर्मा, जी. पी. (2019). *ग्रामीण विकास एवं भारतीय अर्थव्यवस्था.* नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन।
3. यादव, एम. के. (2020). *कृषि एवं ग्रामीण विकास.* वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन।
4. कुमार, एस. (2017). *बिहार में औद्योगिक विकास की समस्याएँ.* पटना: ज्ञानदीप प्रकाशन।
5. भारत सरकार. (2021). *बिहार आर्थिक सर्वेक्षण रिपोर्ट.* नई दिल्ली: वित्त मंत्रालय।
6. जनगणना विभाग भारत सरकार. (2011). *जनगणना रिपोर्ट: बिहार.* नई दिल्ली: भारत सरकार प्रकाशन।
7. मिश्रा, डी. एन. (2016). *भारतीय ग्रामीण समाज एवं विकास.* इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन।
8. चौधरी, आर. एस. (2018). *भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था.* नई दिल्ली: साहित्य भवन।
9. बिहार उद्योग विभाग. (2020). *औद्योगिक विकास रिपोर्ट: रोहतास जिला.* पटना: बिहार सरकार।
10. प्रसाद, एल. (2019). *भारत में पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास.* नई दिल्ली: ओरिएंट पब्लिकेशन।
11. सिंह, वी. पी. (2021). "रोहतास जिले का सामाजिक एवं आर्थिक अध्ययन." *भारतीय सामाजिक शोध पत्रिका,* 12(3), 45-58।
12. कुमार, अजय. (2022). "बिहार में कृषि एवं औद्योगिक विकास का अंतर्संबंध." *आर्थिक समीक्षा पत्रिका,* 8(2), 66-74।
13. शुक्ला, पी. (2020). *परिवहन एवं क्षेत्रीय विकास.* नई दिल्ली: अटलांटिक पब्लिशर्स।
14. वर्मा, आर. के. (2017). *भारतीय अर्थव्यवस्था: संरचना एवं विकास.* जयपुर: यूनिवर्सिटी बुक हाउस।
15. बिहार सरकार. (2022). *रोहतास जिला सांख्यिकी पुस्तिका.* पटना: योजना एवं विकास विभाग।

चंद्रकिशोर जायसवाल के कहानी में वृद्ध की स्थिति

निभा कुमारी*

शोध-सार :

आधुनिक हिन्दी साहित्य में विभिन्न विधाओं के रचनाकारों ने अपनी-अपनी तरह से हिन्दी-साहित्य के संवेदना-संसार को समृद्ध किया है। उसमें कथा-विधा के लेखकों ने भी अपनी कथा-कृतियों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में कथाकारों की एक लंबी श्रृंखला है, उनमें कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल भी एक उल्लेखनीय नाम हैं। यह ध्यातव्य है कि हमारे समय के सशक्त एवं अपेक्षाकृत कम चर्चित व मूल्यांकित कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल ने अपनी कहानियों में परिवर्तित सम्बद्ध ग्रामीण-जीवन समाज के यथार्थ एवं उसकी विसंगतियों एवं विषमताओं का वर्णन किया है। साथ ही ग्रामीण जीवन-समाज में टूटते परिवार और रिश्तों में क्षरण एवं तनाव को भी उन्होंने अभिव्यक्त किया है। संपूर्णता में उनकी कहानियों में ग्रामीण जन-जीवन की जिजीविषा और उसके यथार्थ की विसंगतियों का गहरा द्वन्द्व दिखता है। उनकी कहानियाँ वर्तमान बदलते समय में सामाजिक मूल्यों के ह्रास और सामाजिक संबंध के बीच की टकराहट को भी दर्शाती है तथा उनमें ग्रामीण विसंगतियों की अभिव्यक्ति भी यथार्थ रुप में मिलती है। उनकी कहानियों में अपने युग की सापेक्ष परिस्थितियों को बखूबी अभिव्यक्त किया गया है।

बीज शब्द : यथार्थपरक, मनोभावात्मक, अभिव्यक्त, यथार्थ, परिदृश्य, भाषिक संरचना, अंतर्विरोध और द्वन्द्व ।

चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियों में अपने देश-प्रदेश, गाँव, घर परिवार की परिवर्तित स्थिति का यथार्थपरक, मनोभावात्मक और आलोचनात्मक चित्रण मिलता है। वर्त्तमान परिवर्तित समय एवं उपभोक्तावादी संस्कृति ने न केवल शहरी जन-जीवन वरन् ग्रामीण जन-जीवन को भी प्रभावित किया है और उसके कारण मानवीय मूल्य, सोच-विचार एवं दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन आया है। ग्रामीण जन-जीवन का संवेदनात्मक-बोध एवं परिवर्तित समय में उसका ह्रास कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल की मूल चेतना है। उनकी कहानियाँ अपने समय के सामाजिक यर्थाथ और उसके अंतर्विरोध एवं द्वन्द्व को कहीं सम्भालती और कहीं उससे टकराती हुई नजर आती है। चंद्रकिशोर जायसवाल ने अपनी कहानियों में 'हिंगवा घाट में पानी रे', 'नकबेसर कागा ले भागा से भागा', 'जंग', 'जमीन', 'आघातपुष्प', 'तर्पण', 'दुखिया दास कबीर', 'नालायक' आदि में ग्रामीण यथार्थ एवं उसके अंतर्विरोध तथा सामाजिक बदलाव एवं छीजते मूल्यों का मनोभावात्मक यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने अपने गाँव-परिवेश एवं समाज की परिस्थितियों का गहराई से वर्णन किया है। बदलते समय और जीवन-मूल्यों ने ग्रामीण जीवन को प्रभावित किया है। उसमें मजदूर, वृद्ध एवं किसान और विशेषकर निम्नवर्ग के व्यक्ति के जीवन को गहरे रूप से प्रभावित और आक्रांत भी किया है। चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियाँ वर्त्तमान सामाजिक जीवन के परिवर्तित आदर्श को कहीं रेखांकित करती, कहीं उसको व्याख्यायित करती हुई प्रतीत होती है। बदलते समय के जीवन की तमाम परिस्थितियों के द्वन्द्व, ग्रामीण जीवन की जिजीविषा और बदलते हुए मूल्य को उनकी कहानियाँ सहज रूप अभिव्यक्त करती हैं। कथाकार अपनी कमोबेश सभी कहानियों में चित्रित परिस्थितियों-प्रसंगों का औचित्य दिखाता है। चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियों में ग्रामीण यथार्थ एवं उसके परिदृश्य से जुड़ती है, उसकी समाज-संस्कृति को प्रभावित करती और अपने समाज के नये यथार्थ एवं परिदृश्य को भी दर्शाती हैं यह उनकी कहानियों को पढ़ते-विश्लेषण करते हुए हम बखूबी जान-समझ सकते हैं। चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियाँ किस तरह से तत्कालीन समय की विसंगतियों पर कुठाराघात करती हैं और उनको अपने परिवेश एवं यथार्थ की कितनी गहरी समझ है- यह

* एम.ए. (नेट), बाबासाहेब भीमराव अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भी उनकी कहानियों को पढ़ते हुए हम देख-जान सकते हैं। कुल मिलाकर, उनकी कहानियाँ परिवर्तित ग्रामीण यथार्थ का संधान ही नहीं करती हैं, बल्कि उसको साथ लेकर चलती हुई नजर आती है।

यह द्रष्टव्य है कि चंद्रकिशोर जायसवाल ने परिवर्तित ग्रामीण जन-जीवन के यथार्थ पर पर्याप्त संख्या में कहानियों के अतिरिक्त कतिपय महत्वपूर्ण उपन्यास भी लिखे हैं। वस्तुतः चंद्रकिशोर जायसवाल समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य के एक उल्लेखनीय एवं रेखकंनीय कथाकार हैं, इसीलिए यह जरूरी है कि समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल के महत्वपूर्ण अवदानों है और उनकी कहानियों में वृद्धों की स्थिति को अभिव्यक्त करना ।

उन्होंने कथा-साहित्य के लिए कोशी अंचल के ग्रामीण परिवेश को आधार बनाया और वहाँ के परिवार, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति, लोकजीवन तथा भाषिक संरचना का सजीव और यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया। उनके कथा-साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता विमर्शप्रधान लेखन है। उन्होंने कोशी क्षेत्र के जनजीवन, संघर्ष, सामाजिक संबंधों, राजनीतिक परिस्थितियों और सांस्कृतिक परिवेश को गहराई से अभिव्यक्त किया। साथ ही, वृद्ध-जीवन और बाल-जीवन जैसे संवेदनशील विषयों पर भी गंभीरता से लेखन किया। विशेष रूप से वृद्धावस्था और वृद्ध स्त्रियों की मानसिक स्थिति को केंद्र में रखकर उन्होंने अनेक कहानियाँ और उपन्यास रचे, जिनमें वृद्धों के विसंगतिपूर्ण और उपेक्षित जीवन का मार्मिक चित्र उभरकर सामने आता है।

चन्द्रकिशोर जायसवाल का कथा-लेखन वर्ष 1977 से प्रारम्भ माना जाता है और यह निरंतर आज तक सक्रिय रूप से जारी है। इस दौरान उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं, जो वृद्ध-विमर्श की वैचारिक और संवेदनात्मक भूमि को सुदृढ़ करती हैं। उनकी प्रमुख कहानियों में — 'कसमों की महायात्रा', 'टेढ़ा आँगन', 'आँख की खूँटी', 'किताब में लिखा है', 'टेढ़े गाछ की छाया', 'नाल' तथा 'अंधा लंगड़ा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी कहानियाँ वृद्ध-जीवन की समस्याओं, उनकी मानसिक पीड़ा, सामाजिक उपेक्षा तथा अस्तित्वगत संघर्षों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। इस दृष्टि से चन्द्रकिशोर जायसवाल की ये रचनाएँ वृद्ध-विमर्श के अंतर्गत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

'कसमों की महायात्रा' चन्द्रकिशोर जायसवाल की महत्वपूर्ण कहानी है, जो उनके 'जमीन' कहानी-संग्रह में संकलित है। यह कहानी मुख्यतः एक वृद्ध ससुर और बहू के बीच उत्पन्न पारिवारिक तनाव तथा मतभेदों को केंद्र में रखकर लिखी गई है। कहानी के तीन प्रमुख पात्र हैं— बूढ़ा कोदय, उसका बेटा और बहू। किन्तु तीनों के संबंधों में पारस्परिक सामंजस्य का अभाव दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण बूढ़े कोदय का जिद्दी स्वभाव है। वह अपनी उम्र और पारिवारिक अधिकार का हवाला देकर बहू-बेटों को अपने नियंत्रण में रखना चाहता है। दूसरी ओर, बहू उसके हठी और कठोर व्यवहार से आक्रोशित रहती है। परिणामस्वरूप परिवार के भीतर निरंतर तनाव और असंतोष का वातावरण बना रहता है। "बुढ़ाप के कारण बाप का स्वभाव जिद्दी और सनकी हो गया है। वह अपनी पताहू का इसी हथियार से काबू में करना और चुस्त सेवा लना चाहता है। ससुर के विपरीत व्यवहार से पतोहू बार-बार अपनी सहनशीलता की सीमा लांघ जाती है और लापरवाही के बर्ताव पर उतर जाती है। पिता और पत्नी के स्वभाव-व्यवहार से अवध का पारा चढ़ जाता है और कभी इसको तो कभी उसको प्रताड़ित करके अपनी पारिवारिक अव्यवस्था को दूर करने का प्रयत्न करता है।[1]"

समाज में बुजुर्गों का महत्व निरंतर घटता जा रहा है, क्योंकि उपभोक्तावादी सोच से प्रभावित नई पीढ़ी रिश्तों और मानवीय संवेदनाओं की अपेक्षा धन और स्वार्थ को अधिक महत्व देने लगी है। 'कसमों की महायात्रा' कहानी का वृद्ध पात्र कोदय इसका सजीव उदाहरण प्रस्तुत करता है। जब तक वह स्वस्थ था, रिक्शा चलाकर परिवार की आर्थिक सहायता करता था और घर-गृहस्थी के कार्यों में भी सहयोग देता था, तब तक उसकी पतोहू 'लखनौर वाली' उसकी पूरी श्रद्धा और लगन से सेवा करती थी। किन्तु जैसे ही कोदय वृद्धावस्था और बीमारी का

शिकार हुआ, परिवार का व्यवहार उसके प्रति बदलने लगा। वही पतोहू, जो पहले उसकी सेवा-सुश्रुषा में कोई कमी नहीं रखती थी, अब उसके पानी माँगने पर भी अपनी जगह से उठने को तैयार नहीं होती। इस प्रकार कहानी बुजुर्गों के प्रति बदलते पारिवारिक व्यवहार और स्वार्थप्रधान मानसिकता को मार्मिक ढंग से उजागर करती है। कहानीकार लिखते हैं "बूढ़ा बेतहाशा चीखने-चिल्लाने लगा था, जिद बाँध ली, चाह बुड्ढा चिल्ला-चिल्ला कर मर ही क्यूँ न जाए, वह एक चुल्लू पानी देने वाली नहीं है।"[2]

चन्द्रकिशोर जायसवाल की कहानी 'टेढ़ा आँगन' का रिक्शाचालक उचित दास एक ऐसा वृद्ध पात्र है, जो परिवार और समाज—दोनों स्तरों पर उपेक्षा का शिकार है। वृद्धावस्था के कारण समाज उसे असहाय और अनुपयोगी मानने लगा है, इसलिए उसके जीवन में विवशता और बेबसी का गहरा भाव दिखाई देता है। उम्र के अंतिम पड़ाव पर पहुँच चुके उचित दास का शरीर अब उसका साथ नहीं देता, किन्तु पेट की भूख और जीवन-निर्वाह की चिंता उसे रिक्शा चलाने के लिए बाध्य करती है।

जहाँ सामान्यतः 'राम-नाम' को शांति और मुक्ति का प्रतीक माना जाता है, वहीं उचित दास के लिए वह उसकी लाचारी और असहाय स्थिति का प्रतीक बन जाता है। जब वह रिक्शे पर बैठी सवारी को खींचने में स्वयं को असमर्थ पाता है, तब अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है— "हे राम! अब क्या होगा?" इस कथन में उसकी आर्थिक चिंता और पारिवारिक असुरक्षा स्पष्ट झलकती है। वह जानता है कि यदि वह रिक्शा नहीं चलाएगा, तो आमदनी बंद हो जाएगी, और पैसे के अभाव में उसे बेटे-बहू के तिरस्कार और अपमान का सामना करना पड़ेगा।

कहानी में कई प्रसंग ऐसे आते हैं, जहाँ उचित दास अपनी पतोहू द्वारा अपमानित होता दिखाई देता है। एक दृश्य में बड़े बेटे की पत्नी हाथ में झाड़ू लिए खड़ी है। संकेत मिलता है कि वह पहले भी अपने वृद्ध ससुर का अपमान कर चुकी है और अब भी कठोर शब्दों से उसे अपमानित कर रही है। इस प्रकार कहानी वृद्धावस्था की त्रासदी, आर्थिक निर्भरता और पारिवारिक संवेदनहीनता का अत्यंत मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है। "की पड़े इस बुड्ढे पर। मैं तो झाड़ू मार-मारकर थक गयी। न जाने किस-किस की उमर लेकर बैठा हुआ है। मरता भी नहीं।"[3]

जब कथावाचक का मित्र यह कहता है कि "आप अपने पात्रों के लिए संसार की सृष्टि करते हैं, वह उसके रहने लायक नहीं होता, वह संसार उनकी जिजीविषा को मार देता है। आपके इस संसार में केवल दुःख है, बेचनी है व्याकुलता है निराशा है अपमान है भय है मतलब हर तरफ अंधकार ही अंधकार है। एक साहित्यकार का काम है इस संसार को सजाना-सँवारना उसे रहने लायक बनाना और अपने पात्रों में जिजीविषा पैदा करना। आपके हर पात्र को इस दुनिया में जिन्दा रहना भारी लग रहा है, वह किसी तरह अपने दिन काट रहा है। आप तो ऐसा लिखें कि यह दुनिया एक फुलवाड़ी की तरह दिखे जहाँ तरह-तरह के फल खिले हों। यह संसार सुख के लिए हो, आनन्द के लिए हो।"[4]

किताब में लिखा है' चन्द्रकिशोर जायसवाल की एक अत्यंत मार्मिक कहानी है। इस कहानी के केंद्र में वृद्ध कस्तूरी भगत और उनकी बूढ़ी पत्नी हैं, जो अपने बेटे-बहू के प्रति अनेक आशाएँ और भावनाएँ संजोए हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी वृद्ध आँखों में यह उम्मीद लगातार बनी रहती है कि शहर में रहने वाला बेटा कभी उनसे मिलने आएगा और उनके अकेलेपन को बाँटेगा।

किन्तु वास्तविकता इससे बिल्कुल भिन्न है। बेटा अपने वृद्ध माता-पिता से मिलने तक नहीं आता, जिससे उनका जीवन गहरे अकेलेपन और उपेक्षा से भर जाता है। वे मानो एक ऐसे सूने रेगिस्तान में जीवन-यात्रा तय कर रहे हैं, जहाँ अपनापन और सहारा दुर्लभ हो चुका है। ऐसे निराशाजनक जीवन में कभी-कभी बेटी का स्नेहिल साथ उन्हें मानसिक संबल प्रदान करता है। बेटी की उपस्थिति उनके जीवन में क्षणिक सुख, आत्मीयता और आगे जीने की प्रेरणा बनकर आती है।

इस प्रकार कहानी वृद्धावस्था की पीड़ा, पारिवारिक उपेक्षा और भावनात्मक अकेलेपन को अत्यंत संवेदनशील ढंग से अभिव्यक्त करती है। "कस्तूरी भगत ने अपने बेटे तेज को पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाया। उसकी शादी की और नौकरी करने पर वह बाहर चला गया। जिस बुढापे की लाठी की उम्मीद में उसे बुढ़ापा अंततः उन्हें सम्पूर्ण निराश कर दिया। घर में बूढा-बूढ़ी एक प्रकार अकेलेपन से जूझते हुए एक-दसरे के लिए अजनबी-सा बन गये। उन्हें केवल तेज के पत्र की प्रतीक्षा रहती. जिसका आना प्रायः बंद हो चुका था। कई बार पुत्र, पतोहू तथा पोते लल्लू को देखने जाने की ललक हुई, पर पत्र का जबाव नकारात्मक एवं बहाने से भरा हुआ ही आया।"[5]

उसी में आगे कहते है कि तंत्र चलाने वाले हो या घर के छोटे-बड़े, वृद्धों के बारे में तब तक नहीं सोचते जब तक कोई तीव्र स्वर उनके प्रति न उठे।"[6]

यही स्थिति कस्तूरी भगत के साथ है। घर-परिवार में अकेला निराश्रित होने के बावजूद न तो समाज सुधि लेता है और न ही बेटा-बहू। घर में दो बूढ़े-बूढ़ी होने के बावजूद दोनों अकेला ही महसूस करते है। कथाकार लिखते हैं- "घर जितना खाली नहीं था उससे अधिक खाली लगता था। उस घर में अभी भी दो प्राणी हैं, ऐसा तो लगता ही नहीं था। बूढ़ा-बूढ़ी इतने बरसों तक साथ रह चुके थे और इन बरसों में इतना बतिया चुके थे कि अब आपस में बोलने-बतियाने के लिए बाकी कुछ बचा ही नहीं था।"[7]

जब वृद्ध कस्तूरी भगत की पत्नी के मन में शहर जाकर अपने बेटे-बहू से मिलने की इच्छा जागृत हुई, तब कस्तूरी भगत ने उन्हें देखने की आशा में बेटे को पत्र लिखकर वहाँ आने की अनुमति माँगी। तो जवाब आया कि "अभी जिस मकान में वे लोग रह रहे थे वह तो उसकी बीवी को भी ठीक से अँटा नहीं पा रहा था और किसी तीसरे के लिए तो उसमें गुंजाइश नहीं था।"[8]

वृद्धावस्था में स्त्रियों के लिए सबसे बड़ी समस्या होती है वैधव्य। आमतौर पर देखा जाता है कि महिलाओं का जीवनकाल पुरूषों से अधिक होता है। वैधव्य एक ऐसी स्थिति है, जो युवा या वृद्ध, नव या पुरातन किसी को भी बिना चेताए आती है। हालाँकि, वैधव्य जीवन में कभी भी आ सकता है। फिर भी अधिकतर यह वृद्ध महिलाओं के साथ होता है तथा इसकी संभावना बढती उम्र के साथ-साथ बढती रहती है।"[9]

'अंधा और लंगड़ा' कहानी पिता-पुत्र के बीच उत्पन्न वैमनस्य और मानसिक दूरी की कथा है, जिसमें वृद्धावस्था की गहरी पीड़ा अत्यंत मार्मिक रूप में व्यक्त हुई है। कहानी का वृद्ध पात्र सुमरति साह पूरे गाँव में अपने दुःख और विवशता के लिए जाना जाता है। उन्होंने अपना पूरा जीवन ईमानदारी और नैतिकता के साथ बिताया, किन्तु उनका बेटा उनकी इसी ईमानदारी को पारिवारिक दृष्टि से असफलता मानता है। बेटे के अनुसार, सुमरति साह ने जीवनभर न तो कोई संपत्ति अर्जित की और न ही परिवार के लिए पर्याप्त धन-संपत्ति जुटाई। परिणामस्वरूप पिता के आदर्श और बेटे की भौतिकवादी सोच के बीच गहरा टकराव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार कहानी बदलते सामाजिक मूल्यों और वृद्धों के प्रति घटती संवेदनशीलता को प्रभावशाली ढंग से उजागर करती है।

इस बात का दुःख हो कि बाप ने अपने जीवन में उनके लिए कोई जमीन-जायदाद नहीं जोड़ी, इस बात का भारी दुःख हो कि वे बहुत कुछ कर सकते थे, मगर जान-बूझकर कुछ नहीं किया और ऐसा एक दिन नहीं गुजरता हो जब इस दुःख से उठने वाली टीस के कारण बाप को कुछ टेढ़ी-तिरछी नहीं सुनाता हो, उस घर में बूढ़े बाप को जो दुःख हो सकता है, उस दुःख को झेल रहे थे सुमरति साह। थोड़ी-बहुत राहत पाने के लिए जब उन्हें मौका मिलता वे घर से चलकर गुलाब मड़ड़ के बगीचे में बने मकान में आ बैठते और वहीं एकांत विलाप और हरि-स्मरण करते।"[10]
अंततः यही कहा जा सकता है कि वृद्धों की स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है । इसलिए परिवार में बुजुर्ग कम होते जा रहे है। हिन्दी कथा साहित्य में बुजुर्गों की समस्याओं को अपना विषय बनाकर लेखन कर रहे है। जिसमें चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियों में वृद्ध जीवन की त्रासदी का अत्यंत मार्मिक और यथार्थपूर्ण चित्रण प्रस्तुत करती है। उनकी कहानियों में वृद्धों की पारिवारिक उपेक्षा, आर्थिक असुरक्षा, मानसिक अकेलापन दिखाई पड़ता है।

चंद्रकिशोर जायसवाल ने यह स्पस्ट किया है कि आधुनिक समाज में मानवीय संबंदों का संकट सबसे अधिक वृद्धों को प्रभावित करता है। उनकी कहानियाँ पाठक को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती है।

संदर्भ सूची

1. चौधरी, विनय कुमार, चंदरकिशोर जायसवाल का रचना संसार,रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया, संस्करण 2015,पृष्ठ सं. 102
2. जायसवाल, चंदरकिशोर, गोर, जमीन, रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया, संस्करण 2009, पृष्ठ सं. 206
3. जायसवाल, चंदरकिशोर, गोर, किताब में लिखा है, रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया, संस्करण 2003, पृष्ठ सं.57
4. वही पृष्ठ सं. 51
5. चौधरी, विनय कुमार, चंदरकिशोर जायसवाल का रचना संसार,रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया, संस्करण 2015, पृष्ठ सं.116
6. प्रसाद, चंद्रमौले, वृद्ध विमर्श, परिलेख प्रकशन, बिजनौर, संस्करण 2006, पृष्ठ सं. 45
7. जायसवाल, चंदरकिशोर, गोर, किताब में लिखा है, रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया, संस्करण 2003, पृष्ठ सं. 99
8. वही, पृष्ठ सं. 107
9. राजीरिया, डॉ शिवकुमार, वृद्धावस्था विमर्श और हिंदी कहानी, अद्वैत प्रकशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ सं. 95
10. जायसवाल, चंदरकिशोर, नकबेसर कागा ले भागा, रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया, संस्करण 2003, पृष्ठ सं. 29

पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजाति : भागीदारी, सशक्तिकरण एवं चुनौतियों का अध्ययन

अनिल कुमार सिंह*

सारांश

भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था का मूल आधार विकेंद्रीकरण और जनभागीदारी है। पंचायती राज व्यवस्था ग्रामीण लोकतंत्र को सशक्त बनाने का महत्वपूर्ण माध्यम मानी जाती है। अनुसूचित जनजातियाँ भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील वर्ग हैं, जो ऐतिहासिक रूप से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से उपेक्षित रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण और विकास के लिए अनेक संवैधानिक प्रावधान किए। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 ने पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान करते हुए अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की, जिससे उनकी राजनीतिक भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

यह शोध पत्र पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजातियों की भूमिका, भागीदारी, सशक्तिकरण तथा उनसे संबंधित चुनौतियों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। अध्ययन में अनुसूचित जनजातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व, ग्राम सभा की भूमिका, पेसा अधिनियम (PESA Act, 1996), सामाजिक–आर्थिक स्थिति तथा स्थानीय स्वशासन में उनकी सहभागिता का विश्लेषण किया गया है।

यह शोध द्वितीयक स्रोतों पुस्तकों, सरकारी रिपोर्टों, शोध पत्रों और संवैधानिक प्रावधानों पर आधारित है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पंचायती राज व्यवस्था ने अनुसूचित जनजातियों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व और स्थानीय प्रशासन में भागीदारी का अवसर प्रदान किया है, किंतु अशिक्षा, गरीबी, प्रशासनिक हस्तक्षेप और जागरूकता की कमी जैसी समस्याएँ अभी भी उनकी प्रभावी भागीदारी में बाधा बनी हुई हैं।

शब्द कुंजी : पंचायती राज, अनुसूचित जनजाति, ग्राम सभा, पेसा अधिनियम, विकेंद्रीकरण, स्थानीय स्वशासन, जनजातीय विकास, राजनीतिक भागीदारी, 73वाँ संविधान संशोधन, आरक्षण

प्रस्तावना

भारत एक लोकतांत्रिक गणराज्य है, जहाँ शासन व्यवस्था का मूल उद्देश्य जनता की भागीदारी सुनिश्चित करना है। भारतीय लोकतंत्र की वास्तविक सफलता तभी संभव मानी जाती है जब शासन की शक्ति केवल केंद्र और राज्यों तक सीमित न रहकर गाँवों तक पहुँचे। इसी विचार के आधार पर पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य ग्रामीण स्तर पर लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को मजबूत करना तथा स्थानीय समुदायों को शासन प्रक्रिया में सहभागी बनाना था।

भारतीय समाज में अनुसूचित जनजातियाँ एक महत्वपूर्ण सामाजिक समूह हैं, जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा, परंपराएँ और जीवन शैली है। ये समुदाय मुख्यतः वन, पर्वतीय और दूरस्थ क्षेत्रों में निवास करते हैं। ऐतिहासिक रूप से अनुसूचित जनजातियाँ सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी रही हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के क्षेत्र में वे लंबे समय तक मुख्यधारा से अलग–थलग रहीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान निर्माताओं ने अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण और विकास को विशेष महत्व दिया। संविधान के अनुच्छेद 46 में राज्य को निर्देश दिया गया कि वह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों की विशेष रूप से रक्षा करे। इसके अतिरिक्त पाँचवीं और छठी अनुसूची के माध्यम से जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन और संरक्षण के लिए विशेष प्रावधान किए गए।

भारतीय लोकतंत्र में स्थानीय स्वशासन को मजबूत करने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 था। इस संशोधन के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद की त्रिस्तरीय व्यवस्था स्थापित की

* नेट (राजनीति विज्ञान)

गई तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण सुनिश्चित किया गया। इसका उद्देश्य राजनीतिक सत्ता में वंचित वर्गों की भागीदारी बढ़ाना था।

अनुसूचित जनजातियों की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए 1996 में पेसा अधिनियम लागू किया गया। यह अधिनियम अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम सभाओं को विशेष अधिकार प्रदान करता है। पेसा अधिनियम का उद्देश्य जनजातीय समुदायों को उनकी पारंपरिक संसाधनों, संस्कृति और स्थानीय प्रशासन पर नियंत्रण प्रदान करना था। इसके अंतर्गत ग्राम सभा को जल, जंगल और जमीन से संबंधित निर्णयों में महत्वपूर्ण भूमिका दी गई।

पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजातियों की भागीदारी केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक सशक्तिकरण और आत्मनिर्भरता से भी जुड़ी हुई है। पंचायतों में प्रतिनिधित्व मिलने से जनजातीय समुदायों को अपनी समस्याएँ उठाने, विकास योजनाओं में भाग लेने तथा स्थानीय प्रशासन को प्रभावित करने का अवसर प्राप्त हुआ है।

हालाँकि व्यवहारिक स्तर पर अनेक चुनौतियाँ भी सामने आती हैं। कई जनजातीय क्षेत्रों में अशिक्षा, गरीबी, राजनीतिक जागरूकता की कमी और प्रशासनिक हस्तक्षेप के कारण जनजातीय प्रतिनिधि स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने में सक्षम नहीं हो पाते। कई बार पंचायतों में वास्तविक शक्ति स्थानीय प्रभावशाली वर्गों या अधिकारियों के हाथों में बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त महिलाओं की स्थिति भी विशेष ध्यान देने योग्य है। अनुसूचित जनजातीय महिलाओं के लिए आरक्षण ने उनकी राजनीतिक भागीदारी को बढ़ाया है, किंतु सामाजिक और आर्थिक सीमाओं के कारण वे कई बार प्रभावी नेतृत्व नहीं दे पातीं।

समकालीन भारत में जब समावेशी विकास और लोकतांत्रिक भागीदारी की चर्चा हो रही है, तब पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजातियों की भूमिका का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। यह विषय केवल प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़ा नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय, मानवाधिकार और लोकतांत्रिक सशक्तिकरण से भी संबंधित है।

अतः पंचायती राज व्यवस्था अनुसूचित जनजातियों को स्थानीय शासन में भागीदारी प्रदान करने का महत्वपूर्ण माध्यम है। यह व्यवस्था जनजातीय समुदायों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है, बशर्ते इसे प्रभावी ढंग से लागू किया जाए तथा जनजातीय समुदायों को पर्याप्त जागरूकता और संसाधन उपलब्ध कराए जाएँ।

उद्देश्य

इस शोध पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजातियों की भूमिका का अध्ययन करना।
2. 73वें संविधान संशोधन और पेसा अधिनियम के प्रभावों का विश्लेषण करना।
3. अनुसूचित जनजातियों की राजनीतिक भागीदारी का मूल्यांकन करना।
4. जनजातीय क्षेत्रों में ग्राम सभा की भूमिका को समझना।
5. पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजातियों के समक्ष आने वाली चुनौतियों का अध्ययन करना।
6. अनुसूचित जनजातियों के सशक्तिकरण हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

साहित्य की समीक्षा

1. भीमराव आंबेडकर का दृष्टिकोण (1948)

डॉ. भीमराव आंबेडकर ने भारतीय लोकतंत्र में वंचित वर्गों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व को अत्यंत आवश्यक माना। उनका विचार था कि सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े समुदायों को यदि राजनीतिक शक्ति में भागीदारी नहीं मिलेगी, तो लोकतंत्र केवल औपचारिक व्यवस्था बनकर रह जाएगा।

आंबेडकर ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण के लिए विशेष संवैधानिक प्रावधानों की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार राजनीतिक प्रतिनिधित्व सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम है। यही कारण है कि भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण तथा विशेष प्रशासनिक प्रावधान किए गए।

आंबेडकर का यह भी मानना था कि स्थानीय स्वशासन तभी प्रभावी होगा जब समाज के कमजोर वर्गों को निर्णय प्रक्रिया में वास्तविक भागीदारी मिले। पंचायतों में आरक्षण की अवधारणा उनके इसी विचार से प्रेरित मानी जाती है।

2. वेरियर एल्विन का अध्ययन (1964)

वेरियर एल्विन ने भारतीय जनजातीय समाज और संस्कृति का गहन अध्ययन किया। उनकी पुस्तक The Tribal World of Verrier Elwin जनजातीय जीवन को समझने का महत्वपूर्ण स्रोत मानी जाती है।

एल्विन का मत था कि जनजातीय समुदायों की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान और पारंपरिक शासन व्यवस्था होती है, जिसे संरक्षित किया जाना चाहिए। वे जनजातीय समाज के अत्यधिक "मुख्यधाराकरण" के विरोधी थे।

उन्होंने यह तर्क दिया कि जनजातीय क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन को मजबूत किया जाना चाहिए ताकि जनजातीय समुदाय अपने संसाधनों, संस्कृति और जीवन पद्धति पर नियंत्रण बनाए रख सकें। पेसा अधिनियम में ग्राम सभा को दिए गए विशेष अधिकारों में एल्विन के विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

एल्विन ने यह भी कहा कि विकास योजनाओं को जनजातीय समाज की आवश्यकताओं और परंपराओं के अनुरूप बनाया जाना चाहिए।

3. जी.एस. घुर्ये का दृष्टिकोण (1963)

जी.एस. घुर्ये ने अपनी पुस्तक The Scheduled Tribes में अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का विश्लेषण किया।

घुर्ये का दृष्टिकोण एल्विन से कुछ भिन्न था। वे जनजातीय समुदायों को भारतीय समाज की मुख्यधारा में शामिल करने के पक्षधर थे। उनके अनुसार जनजातीय समुदायों का विकास शिक्षा, राजनीतिक भागीदारी और प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से संभव है।

घुर्ये ने यह स्पष्ट किया कि जनजातीय क्षेत्रों में पंचायतों की स्थापना से लोकतांत्रिक भागीदारी बढ़ सकती है। उन्होंने स्थानीय प्रशासन में जनजातीय नेतृत्व को महत्वपूर्ण माना।

हालाँकि उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि सामाजिक पिछड़ापन और अशिक्षा के कारण जनजातीय समुदाय पंचायतों में अपनी भूमिका प्रभावी ढंग से नहीं निभा पाते।

4. बी.एल. फड़िया का योगदान (2018)

बी.एल. फड़िया ने भारतीय शासन व्यवस्था और पंचायती राज संस्थाओं का अध्ययन करते हुए अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण को लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम बताया।

फड़िया के अनुसार 73वें संविधान संशोधन ने पंचायतों को संवैधानिक दर्जा देकर लोकतंत्र को गाँवों तक पहुँचाने का कार्य किया। अनुसूचित जनजातियों के लिए पंचायतों में आरक्षण ने उन्हें राजनीतिक शक्ति में भागीदारी का अवसर प्रदान किया।

उन्होंने यह भी कहा कि जनजातीय क्षेत्रों में पंचायतों की सफलता काफी हद तक प्रशासनिक सहयोग, राजनीतिक जागरूकता और शिक्षा पर निर्भर करती है।

फड़िया ने पेसा अधिनियम को जनजातीय स्वशासन की दिशा में ऐतिहासिक कदम माना, किंतु इसके प्रभावी क्रियान्वयन की कमी की ओर भी ध्यान आकर्षित किया।

5. एम.एन. श्रीनिवास का सामाजिक परिवर्तन सिद्धांत (1966)

एम. एन. श्रीनिवास ने ग्रामीण समाज और सामाजिक परिवर्तन का गहन अध्ययन किया।

उनके अनुसार पंचायतें केवल प्रशासनिक संस्थाएँ नहीं हैं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का माध्यम भी हैं। पंचायतों में भागीदारी के माध्यम से वंचित समुदायों में राजनीतिक चेतना और नेतृत्व क्षमता विकसित होती है।

श्रीनिवास ने यह भी बताया कि ग्रामीण समाज में परंपरागत शक्ति संरचनाएँ पंचायतों को प्रभावित करती हैं। कई बार पंचायतों में आरक्षित प्रतिनिधि वास्तविक शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते क्योंकि स्थानीय प्रभावशाली वर्गों का नियंत्रण बना रहता है।

यह विश्लेषण अनुसूचित जनजातीय पंचायत प्रतिनिधियों की स्थिति को समझने में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

6. वर्जीनियस जाक्सा का विश्लेषण (2008)

वर्जीनियस जाक्सा ने जनजातीय समाज, राज्य और लोकतंत्र के संबंधों का अध्ययन किया। उनकी पुस्तक State, Society, and Tribes जनजातीय राजनीति को समझने का महत्वपूर्ण स्रोत मानी जाती है।

जाक्सा का मत है कि अनुसूचित जनजातियों के लिए केवल संवैधानिक प्रावधान पर्याप्त नहीं हैं। वास्तविक सशक्तिकरण के लिए शिक्षा, आर्थिक संसाधनों तक पहुँच और राजनीतिक जागरूकता आवश्यक है।

उन्होंने यह भी कहा कि पंचायतों में जनजातीय प्रतिनिधित्व कई बार प्रतीकात्मक बनकर रह जाता है क्योंकि प्रशासनिक निर्णयों पर नौकरशाही और स्थानीय प्रभावशाली वर्गों का नियंत्रण बना रहता है।

कार्य प्रणाली

यह शोध गुणात्मक एवं वर्णनात्मक पद्धति पर आधारित है।

तथ्य संग्रहण के स्रोत

- पुस्तकें
- शोध पत्र
- सरकारी रिपोर्ट
- जनगणना आँकड़े
- संवैधानिक प्रावधान एवं अधिनियम

शोध का स्वरूप

- विश्लेषणात्मक
- ऐतिहासिक
- वर्णनात्मक

पंचायती राज व्यवस्था और अनुसूचित जनजाति

73वें संविधान संशोधन के बाद पंचायतों में अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण सुनिश्चित किया गया। इससे जनजातीय समुदायों की राजनीतिक भागीदारी में वृद्धि हुई।

प्रमुख विशेषताएँ

1. पंचायतों में आरक्षण
2. ग्राम सभा की भूमिका
3. स्थानीय विकास योजनाओं में भागीदारी
4. जनजातीय क्षेत्रों में स्वशासन

पेसा अधिनियम, 1996 की भूमिका

पेसा अधिनियम अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम सभाओं को विशेष अधिकार प्रदान करता है।

पेसा अधिनियम के प्रमुख प्रावधान

- ग्राम सभा को प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार
- स्थानीय योजनाओं की स्वीकृति
- परंपरागत रीति–रिवाजों का संरक्षण
- खनन और भूमि अधिग्रहण में ग्राम सभा की भूमिका

सारणी रू पंचायती राज व्यवस्था में अनुसूचित जनजातियों की स्थिति

क्षेत्र	सकारात्मक प्रभाव	प्रमुख चुनौतियाँ
राजनीतिक भागीदारी	प्रतिनिधित्व में वृद्धि	जागरूकता की कमी
ग्राम सभा	स्थानीय निर्णयों में भागीदारी	प्रशासनिक हस्तक्षेप
महिला नेतृत्व	महिलाओं की भागीदारी बढ़ी	सामाजिक बाधाएँ
विकास योजनाएँ	स्थानीय विकास को बढ़ावा	भ्रष्टाचार एवं संसाधन कमी

परिणाम एवं विवेचना

सकारात्मक परिणाम

1. अनुसूचित जनजातियों का राजनीतिक सशक्तिकरण हुआ।
2. पंचायतों में उनकी भागीदारी बढ़ी।
3. ग्राम सभाओं के माध्यम से स्थानीय समस्याओं को उठाने का अवसर मिला।
4. जनजातीय महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में वृद्धि हुई।

प्रमुख चुनौतियाँ

1. अशिक्षा और जागरूकता की कमी
2. प्रशासनिक नियंत्रण और भ्रष्टाचार
3. आर्थिक निर्भरता
4. प्रभावशाली वर्गों का दबाव
5. पेसा अधिनियम का कमजोर क्रियान्वयन

विवेचना

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पंचायती राज व्यवस्था ने अनुसूचित जनजातियों को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शामिल करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। हालांकि केवल आरक्षण पर्याप्त नहीं हैय प्रभावी भागीदारी के लिए शिक्षा, जागरूकता और प्रशासनिक सुधार आवश्यक हैं।

निष्कर्ष

पंचायती राज व्यवस्था भारतीय लोकतंत्र को जमीनी स्तर तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण माध्यम है। अनुसूचित जनजातियों के लिए पंचायतों में आरक्षण और पेसा अधिनियम जैसे प्रावधानों ने उनके राजनीतिक सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

फिर भी अनेक चुनौतियाँकृजैसे अशिक्षा, गरीबी, प्रशासनिक हस्तक्षेप और जागरूकता की कमीकृ उनकी प्रभावी भागीदारी में बाधा बनी हुई हैं। इसलिए आवश्यक है कि पंचायत प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण दिया जाए, ग्राम सभाओं को मजबूत बनाया जाए तथा पेसा अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू किया जाए।

अतः यह कहा जा सकता है कि पंचायती राज व्यवस्था अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सशक्तिकरण का महत्वपूर्ण साधन है। यदि इसे सही रूप में लागू किया जाए, तो यह जनजातीय समुदायों के समावेशी विकास और लोकतांत्रिक भागीदारी को सुनिश्चित कर सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Ambedkar, B. R. (1948). *The Untouchables and Indian Democracy*. New Delhi: Government Press.
2. Elwin, V. (1964). *The Tribal World of Verrier Elwin*. London: Oxford University Press.
3. Fadia, B. L. (2018). *Indian Government and Politics*. Agra: Sahitya Bhawan.
4. Ghurye, G. S. (1963). *The Scheduled Tribes*. Bombay: Popular Prakashan.
5. Ministry of Panchayati Raj. (2010). *PESA Act and Tribal Governance*. New Delhi: Government of India.
6. Narayan, J. (2005). *Panchayati Raj in India*. New Delhi: Concept Publishing Company.
7. Srinivas, M. N. (1966). *Social Change in Modern India*. Berkeley: University of California Press.
8. Xaxa, V. (2008). *State, Society, and Tribes*. New Delhi: Pearson Education.
9. Government of India. (1996). *Panchayats (Extension to Scheduled Areas) Act*. New Delhi: Government Press.
10. Kumar, S. (2017). "Tribal Participation in Panchayati Raj Institutions." *Indian Journal of Public Administration*, 63(2), 210–225.

◂◂ ▸▸

पर्यावरण संरक्षण – चिपको आन्दोलन : एक अध्ययन

अजीत कुमार*

भारत में संरक्षण का पुराना चलन है। यह संरक्षण की आधुनिक पद्धतियों के समक्ष विकल्प प्रस्तुत करता रहा है। ये विकल्प आधुनिक पद्धतियों की गलत प्राथमिकताओं के परिणाम हैं। कभी–कभी 'आधुनिक' चलने में शोषण की अन्तर्निहित प्रक्रिया के विरोधस्वरूप भी ऐसे विकल्पों का जन्म होता है। राजस्थान में सुप्रसिद्ध खेजरी पेड़ सुरक्षा आन्दोलन, जिसके बारे में पहले ही ईकाई 16, खण्ड 5 में जानकारी दी गई है, इस प्रकार का आन्दोलन है। एक अन्य, समरूप नहीं भी तो समानांतर आन्दोलन है चिपको आन्दोलन।

चिपको आन्दोलन मूलतः उत्तराखण्ड के वनों की सुरक्षा के लिए वहां के लोगों द्वारा 1970 के दशक में आरम्भ किया गया आन्दोलन है।[1] (उत्तराखण्ड उन दिनों उत्तर प्रदेश राज्य का ही एक भाग था) हालांकि इस आन्दोलन की जड़ें और पीछे जाती हैं और उन्हें ब्रिटिशकालीन 'वन अधिनियम' के दुष्ट प्रावधानों से जोड़ कर देखा जा सकता है जिनके तहत पहाड़ी समुदाय को उनकी दैनिक आवश्यकताओं के लिए भी वनों के सामुदायिक उपयोग से वंचित कर दिया गया था।[2] ये वन उत्तराखण्ड हिमालय के कुमाऊं और गढ़वाल क्षेत्र के लोगों के लिए कितनी अहमियत रखते इसे सही शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है : ''हिमालय के बहुत ही संवेदनशील पारितंत्र में वन संसाधन महत्वपूर्ण घटक हैं। जाड़े के मौसम में भारी हिमपात की स्थिति में जल एवं मिट्टी का स्थायित्व बनाए रखने (संरक्षण) में प्राकृतिक रूप से चौड़े–चौड़े पत्तों और मिश्रित वनों की केन्द्रीय भूमिका होती है। वे पहाड़ों में कृषि की निरंतरता और पशुपालन के लिए सबसे महत्वपूर्ण आवश्यक सामग्रियों की आपूर्ति भी करते हैं। पहाड़ी गांवों की कृषि–पशुपालन आधारित अर्थव्यवस्था के लिए निस्सन्देह ये वन ही भौतिक आधार जुटाते हैं।[3] हरी पत्तियां और घास पालतू जन्तुओं के लिए चारा का काम करते और इन मवेशियों का गोबर खाद्य फसलों के लिए पोषक तत्त्वों का एकमात्र स्रोत बनता है। इसी प्रकार सूखी टहनियां और शाखाएं घरेलू ईंधन का एकमात्र स्रोत है। कृषि उपकरणों एवं घर का ढांचा बनाने हेतु लकड़ियां भी वन से मिलती हैं। वनों से स्थानीय खपत के लिए भारी मात्रा में फल, शुष्क फल, रेशेदार फल, और जड़ी–बूटियां मिलती हैं।'' (चिपको, इण्डियाज सिवलाइजेशनल रिस्पांस टू द फॉरेस्ट क्राइसिस', इनटैक, नई दिल्ली, 1986, पृ. 6, वन्दना शिवा, जयन्त बंदोपाध्याय) वन सम्पदा के उपयोग और प्रबंधन में गढ़वाल क्षेत्र में आ बसे अंग्रजों एवं पहाड़ी राज्य के प्रशासकों द्वारा किए गए परिवर्तन ने चिपको आन्दोलन की सुगबुगाहट पैदा की। कथित परिवर्तन के उद्देश्य से किए गए उपाय निम्नलिखित हैं :

- सन् 1850 में अंग्रेजों ने गढ़वाल क्षेत्र (मुख्यतः टिहरी गढ़वाल) के वनों को नाम मात्र के सालाना किराए पर ले लिया।
- सन् 1864 में इस क्षेत्र के वनों को 20 वर्ष की लीज पर ले लिया गया।
- सन् 1895 में इन वनों को स्थानीय राज्य यानी टिहरी गढ़वाल के प्रशासकों के अधीन कर दिया गया।[4]

गांव के लोगों को वन के उपयोग से वंचित करने के लिए ये सभी उपाय किए गए थे। इस प्रकार वनों से उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं (कमाई) और वन्य संसाधन पर आधारित उनके जीवन पर भी प्रतिबंध लगा। 19वीं सदी के अन्त से लोगों के बीच इन उपायों के विरूद्ध सुगबुगाहट के लक्षण दिखाई देने लगे। 20वीं सदी के आरम्भ में ये विरोध कुछ–कुछ संगठित भी होने लगे। सुन्दरलाल बहुगुणा की रिपोर्ट के अनुसार टिहरी गढ़वाल के शासकों के विरूद्ध पहाड़ी लोगों के विरोध ने सन् 1907 में एक संगठित स्वरूप लिया जब वहां की जनता के क्रोध को शान्त करने के लिए स्वयं तत्कालीन शासक कीर्ति शाह को हस्तक्षेप करना पड़ा था। (सुमन स्मृति ग्रन्थ, सिलयारा, 1976 के भक्तदर्शन संस्करण में 'बागी टिहरी की एक झांकी') हालांकि ''लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं और राज्य के राजस्व के बीच विरोध यथावत बना रहा'' और वन्दना शिवा और जयन्त बंदोपाध्याय के शब्दों में ''यह समय के साथ तीव्र होता गया।''[5]

सन् 1930 में गढ़वाल के लोगों ने असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया। यह मुख्यतः वन के मुद्दों पर केन्द्रित था। नए वन कानूनों के विरूद्ध रेसाईं क्षेत्र में सर्वाधिक सत्याग्रह देखा गया। तिलारी में भारी विरोध

* एम0ए0 (इतिहास), इग्नू, यू0जी0सी0 नेट, 2013

सभा हुई। उस समय टिहरी के राजा यूरोप में थे। उनके बढ़ावे में दीवान चक्रधर जयाल ने सशस्त्र बल से सत्याग्रहियों को कुचल डाला।[6] बड़ी संख्या में सत्याग्रही मारे गए और घायल हुए। बहुत से लोग भगदड़ में यमुना की पहाड़ी नदियों को फलांगते मारे गए। गढ़वाल राज्य में वन सम्पदा पर अधिकार का मामला ज्वलंत बना ही रहा और दूसरी ओर पूरे भारत में उपनिवेश विरोधी स्वतंत्रता आन्दोलन ने प्रजातंत्र के लिए गढ़वाल वासियों के आन्दोलन को हवा दी। सकलाना, बदियागढ़, कारोकोट, कीर्तिनगर और कुछ अन्य क्षेत्रों ने सन् 1947 में राजा के विरूद्ध बगावत कर दी और अपने आप को स्वतंत्र पंचायत घोषित कर दिया। अंततः 1 अगस्त 1949 को टिहरी राज्य को सामन्ती शासन से मुक्ति मिली और यह संघीय भारत एवं उत्तर प्रदेश राज्य का एक अभिन्न अंग बन गया।''[7]

इस प्रकार स्वातंष्योत्तर भारत में जारी चिपको आन्दोलन के पीछे हिमालय के गढ़वाल क्षेत्र में इसी प्रकार के वनान्दोलनों की एक सम्पन्न परम्परा है। हिमालय के एक दूर–दराज गांव गोपेश्वर में किसानों के एक समूह द्वारा पेड़ों की कटाई को रोकने की छोटी–सी घटना इतने बड़े चिपकों आन्दोलन की तात्कालिक वजह बनी।[8] यह अधिक सम्भव 27 मार्च 1973 का दिन था। इस घटना से सम्बद्ध अन्य विवरण नीचे गए हैं :

- राज्य वन विभाग, घटना क्षेत्र के स्वामी, ने कथित क्षेत्र के पेड़ों की नीलामी इलाहाबाद की एक खेल–कूद के सामान बनाने वाली कम्पनी के नाम कर दी थीः
- कथित क्षेत्र, मण्डल गांव के लोगों ने सचमुच वहां के पेड़ों को गले लगा लिया ताकि उन्हें कोई काट न सके। यह आलिंगन दरअसल प्रकृति और पुरूष के बीच सम्मिलन का प्रतीक बना और इसे 'चिपको' की संज्ञा दी गई। आन्दोलनकारियों का कहना था प्रकृति का विनाश सम्भव है बशर्ते पेड़ों से चिपके लोगों की हत्या पहले कर दी जाए :
- 'चिपको' नामक यह शब्द क्षेत्रीय लोककवि घनश्याम ततुरी की कविता से उद्धृत है।

नीचे प्रस्तुत है इसका अनुवाद :

पेड़ों से जा चिपको
उन्हें धर से अलग न होने दो
हमारे पहाड़ों का यह धरोहर
कहीं लुट न जाएं कट कर।[9]

गोपेश्वर में वन की कटाई को सफलतापूर्वक रूकते ही सर्वोदय मण्डल वनान्दोलन ने जोर पकड़ लिया। सुन्दरलाल बहुगुणा, जो परिवहन विभाग में बुकिंग क्लर्क की नौकरी छोड़ चुके थे, के नेतृत्व में चमोली जिला (गोपेश्वर इसी जिले में पड़ता था) में एक पदयात्रा का आयोजन हुआ। आन्दोलन तेजी से पहले उत्तरकाशी और तब पूरे पहाड़ी क्षेत्र में फैल गया।[10]

वन संसाधनों का अत्यधिक दोहन और वन्य समुदायों के समक्ष उससे उत्पन्न खतरों के प्रति चिन्ता के स्वरूप में बदलाव आया है। पहले यह वन्य सम्पदा के भौतिक लाभों की चिन्दा होती जो क्रमशः आर्थिक लागत के वितरण की चिन्ता बन गई। पहले चरण में व्यावसायिक हितों की वृद्धि के परिणामस्वरूप बढ़ती मांग को खत्म करने का प्रयास शुरू हुआ। भारत की वन सम्पदा का भारी पैमाने पर व्यावसायिक दोहन ने वन सम्बन्धी कानूनों की आवश्यकता को रेखांकित कर दिया जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण समुदायों के लिए वन सम्पदा सुलभ नहीं रहा। सन् 1930 के दशक में जारी वनान्दोलन एक ऐसे ही वन अधिनियम (1927) का परिणाम था जिसके तहत लोगों से तो जीवनयापन हेतु जैव सम्पदा का अधिकार छीन लिया गया पर औद्योगिक एवं व्यावसायिक विकास के मद्देनजर जैव सम्पदा के उत्पादन में वृद्धि की गई। हालांकि व्यावसायिक लाभ हेतु उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप विरोध का दूसरा चरण, पारितंत्र स्तर पर, आरम्भ हो गया। वन प्रबंधन के वर्तमान ढांचे में वन सम्पदा की वैज्ञानिक एवं तकनीकी जानकारी बहुत सीमित है। इसमें वन सम्पदा व्यावसायिक (इमारती) लकड़ी का स्रोत भर है। इसके परिणामस्वरूप वन सम्पदा प्रबंधन का अर्थ एक ऐसा जोड़–तोड़ है जो व्यावसायिक लकड़ी की मात्रा में तत्काल वृद्धि करे और इसके लिए सबसे पहले कम कीमती पर जन समुदाय के लिए अधिक लाभदायी अन्य जैव सम्पदाओं का विनाश कर दिया जाता है। इसका भी ध्यान नहीं रखा जाता कि ये पारितंत्र संतुलन हेतु आवश्यक है। आधुनिक वन प्रबंधन में वनवर्द्धन पद्धति के तहत सम्पदा के गैर–व्यावसायिक स्वरूपों का विनाश कर दिया जाता है ताकि व्यावसायिक रूप से लाभदायी जैव सम्पदा का अधिक उत्पादन हो सके। पारितंत्र के लिए बहुमूल्य माजूफल (ओक) के पेड़ों को शंकु वृक्ष (कोनिफर्स) से विस्थापित करना इसी विनाश का संकेत देता है। अंततः उत्पादन में इस वृद्धि को आप वनों में उपलब्ध पारितांत्रिक पूंजी, जिसे संचित होने में हजारों वर्ष लगे, में सेंध लगाना कह सकते हैं।[11]

समकालीन चिपको आन्दोलन एक राष्ट्रीय अभियान बन गया है। यह वैज्ञानिक, तकनीकी, आर्थिक और विशेष कर पारितंत्र स्तर पर वन संसाधनों को लेकर बहुआयामी संघर्षों का परिणाम है। यह इमारती लकड़ी और रेजिन सदृश वन संसाधनों के स्थानीय या गैर–स्थानीय वितरण पर संघर्ष तक सीमित नहीं रहा। चिपको आन्दोलन पहले वन संसाधनों के विनाशकारी दोहनके तत्कालीन लाभों में स्थानीय लोगों की बृहत्तर भागीदारी की मांग किया करता है। अब तो यह पारितंत्र के पुनर्वास की महत्वाकांक्षा के साथ जारी है। चूंकि चिपको आन्दोलन वनों को उनके पारितांत्रिक परिवेश में देखने पर आधारित है यह वन प्रबंधन के लघुकालिक वृद्धि–उन्मुख स्वरूप के सामाजिक और आर्थिक दुष्परिणामों का रहस्योद्‌घाटन करता है। चिपको आन्दोलन के नारों में भी यह स्पष्ट है। इन नारों में इमारती लकड़ी या रेजिन नहीं, बल्कि मिट्टी, जल और ऑक्सीजन को मुख्य वन्य उत्पाद घोषित किया गया है। चिपको आन्दोलन के दर्शन और गढ़वाली चलन के अनुसार समुचित सामाजिक नियंत्रण से खाद्य, ईंधन, चारा, कमोबेश लकड़ियां और खाद की आपूर्ति बखूबी हो सकती है। ये जैव सम्पदा उत्पादन के ऊपरी सकारात्मक लाभ होंगे। कथित दर्शन व चलन मिट्टी–पानी के संरक्षण के मूल उद्देश्य पर केन्द्रित रहते हुए स्थानीय कृषि–पशुपालन की अर्थव्यवस्था को स्थायित्व भी देंगे।[12]

चिपको आन्दोलन कई मामलों में सफल रही है। उत्तर प्रदेश में 1,000 मीटर से अधिक की ऊंचाई पर पेड़–पौधों की कटाईः पश्चिमी घाट और विंध्य में जंगलों की सफाई (क्लियर फेलिंग) पर प्रतिबंध लगवाने में सफल रहा है। साथ ही, एक राष्ट्रीय वन नीति हेतु दबाव जताने में सफल रहा है, जो लोगों की आवश्यकताओं एवं देश के पारितंत्र के विकास के प्रति अधिक संवेदनशील होगी। दुर्भाग्यवश कुछ स्वार्थी लोगों ने चिपको आन्दोलन को 'विकास' बनाम 'पारितंत्र' प्रस्तुत कर दिया है। उनकी राय में 'विकास' जीवन के भौतिक (या आर्थिक) और वस्तुनिष्ठ उद्देश्यों से सम्बद्ध है जबकि 'पारितंत्र' एक गैर–आर्थिक और वैयक्तिक अनुभूति, जैसे दृश्य की सुन्दरता से सम्बद्ध है। 'विकास' एवं 'पारितंत्र' के बीच जानबूझकर इस प्रकार का मिथ्या द्वैध उत्पन्न करने से एक अन्य वास्तविक द्वैध पर पर्दा पड़ जाता है। और यह द्वैध है पारितंत्र के अनुरूप स्वस्थ विकास, और एक ऐसा विकास जो सतत तो नहीं ही है, विनाशकारी भी है। इस विनाशकारी आर्थिक वृद्धि के लिए सदैव जीवनदायी व्यवस्था के विनाश की जरूरत पड़ती है। आर्थिक रूप से वंचित समुदायों को और वंचित कर दिया जाता है। असली विकास के लिए पारितंत्र का स्थायित्व अनिवार्य है क्योंकि एक स्थाई पारितंत्र ही जीवनदायी संसाधनों की सतत आपूर्ति सुनिश्चित कर सकता है। गांधी और बाद में उनकी शिष्याएं – मीरा और सरला बेन ने साफ शब्दों में इसकी व्याख्या की कि विकास और पारितंत्र की स्थिरता में कैसे और क्यों अनिवार्यतः अन्तर्विरोध नहीं है। दोहन आधारित आर्थिक वृद्धि और चिपको सदृश पारितंत्र के आन्दोलन कभी विकास के मार्ग में बाधक नहीं होते। सच तो यह है कि पारितंत्र के स्थायित्व को सदैव ध्यान में रखने से ये सदैव सभी के लिए जीवन का आर्थिक आधार सुनिश्चित करने की सबसे अच्छी गारंटी बन जाते हैं।

(वन्दना शिवा, जयन्त बंदोपाध्याय, चिपको इण्डियाज सिवलाइजेशन रिस्पांस टू द फॉरेस्ट क्राइसिस, इनटैक, नई दिल्ली, 1986)

"चिपको प्राकृतिक संसाधनों से संबद्ध संघर्षों की व्यापकता का प्रतिनिधित्व करता है," कहते हैं, रामचंद्र गुहा, "जो (संघर्ष) 1970 और 1980 के दशकों में देश के कई भागों में उभर आए थे। वन, मत्स्याखोट और चारागाह संबंधी संघर्षः आद्योगिक प्रदूषण और उत्खनन को लेकन जारी संघर्ष, और बड़े–बड़े तटबंध बनाने के लिए जारी संघर्ष उल्लेखनीय हैं। इन संघषों को क्रमशः अवनति–अभाव–विरोध–विवाद (स्थानीय)–विवाद (राष्ट्रीय) के क्रम में देखा जा सकता है। इस क्रम को चिपको के आलोक में देखें तो पता चलता है कि पहाड़ों में वन की कटाई से एक ओर स्थानीय समुदाय के लिए जलावन, खाद्य पदार्थों, चारा और छोटी–मोटी इमारती लकड़ियों का अभाव हुआ तो दूसरी ओर लकड़ी (भारत में सिर्फ हिमालय में पाई जाने वाली मुलायम लकड़ियों पर) आधारित उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति घट गई। राज्य सरकार ने संघर्ष के एक पक्ष, उद्योग, का पक्ष लिया तो दूसरा पक्ष्ज्ञ अर्थात् स्थानीय समुदाय ने एकजुट विरोध शुरू कर दिया। इस मुद्दे को दुनिया के एक बहुत ही मुखर समाचार पत्र ने तूल दिया। और इस प्रकार एक विवाद छिड़ गया कि हिमालय के वनों की सर्वाधिक सुरक्षा किसके हाथ होगी– स्थानीय समुदाय, राज्य सरकार या फिर निजी पूंजीपतियों के हाथ। मसला यह भी था कि कौन से पेड़–पौधे लगाए जाएं – शंकु वृक्ष, चौड़े पत्ते वाले पेड़ या विदेशी पेड़। और फिर सवाल उठा कि वनों के असली उत्पाद क्या हैं – उद्योगों के लिए लकड़ी, गांव के लोगों के लिए जैव संपदा, या पूरे समुदा के लिए आवश्यक मिट्टी, पानी और स्वच्छ

हवा। अंततः पूरे देश के लिए वन्य नीति निर्धारण की दिशा में इस क्षेत्रीय विवाद ने एक राष्ट्रीय स्वरूप ले लिया।''[13]

चिपकों आंदोलन एक विकल्प देता है। यह आम जनता की पहल है। विकास के नाम पर पहाड़ी क्षेत्र के समुदायों से 'वन–हरण' ने इन लोगों के मन में बाहरी ताकतों के लिए वैमनस्य पैदा कर दिया। इसके परिणामस्वरूप एक प्रकार का सत्याग्रह शुरू हुआ जो गांधीवादी अहिंसात्मक विरोध था। वंदाना शिवा और जयंत बंदोपाध्याय के शब्दों में ''ऐतिहासिक, दार्शनिक और संगठनात्मक रूप से चिपकों आंदोलन पारंपरिक गांधीवादी सत्याग्रहों का विस्तृत स्वरूप था। हां, इसकी एक खास बात यह थी कि यह स्वाधीन भारत में शुरू हुआ।''

संदर्भ :

1. एंथनी जे. परेल संपा., हिन्द स्वराज एण्ड अदर राइटिंग्स, कैम्ब्रिज टेक्स्ट्स इन मॉडर्न पालिटिक्स सिरीज, संपा. जॉन डन, जेफरी हॉदर्न, प्रथम दक्षिण एशियाई संस्करण, नई दिल्ली, 1997
2. वही
3. रामचंद्र गुहा, इनवायरमेंटलिज्म : ए ग्लाबेल हिस्टी, नई दिल्ली, 2000
4. वही
5. वही
6. कमला चौधरी, इंडस्टिलाइजेशन, सर्वाइवल एण्ड इनवायरनमेंट : ए डायलॉग ऑन डेवलपमेंट, द इनटैक इनवायरमेंट सिरीज, 8, नई दिल्ली, 1989
7. वही
8. वही
9. वंदना शिवा, जयंत बंदोपाध्याय, चिपको : इंडियाज सिवलाइजेशनल रिस्पांस टू द फॉरेस्ट काइसिस, द इनटैक इनवायरनमेंट सिरीज, 8 नई दिल्ली, 1986
10. रामचंद्र गुहा, द यूनिक वुड्स : इकलॉजिकल चेंज एण्डपेजेंटरेसिस्टेंस इन द हिमालया, नई दिल्ली, 1999
11. वही
12. मोहनदास करमचंद गांधी, इंडिया ऑफ माय डीम्स, संकलनः आर. के. प्रभु, अहमदाबाद, 1947
13. वही